मनुष्यके आध्यात्मिक पुनरुत्थानके लिए समर्पित

ज्योति शिखा

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई

"ज्योति शिखा"

आचार्य श्री रजनीश की अमृतवाणी का त्रैमासिक संकलन

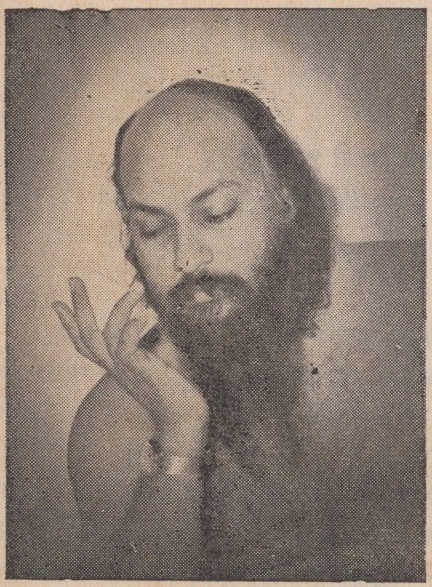

- पांचवा संकलन
- जून, १९६७
- मानार्ह संपादक :

  श्री जटुभाई महेता

- संपादक मंडल :

  श्री दुर्लभजीभाई खेताणी

  श्री गुलाबचंद त. शेठ

  श्रीमती पूर्णिमाबहन पकवासा

- मुद्रक–प्रकाशकः

  श्री रमणलाल सी. शाह

  जीवन जागृति केन्द्र,

  ५०५, कालबादेवी, बंबई–२

- मुद्रणस्थानः

  स्टेट्स पीपल प्रेस,

  घोगा स्ट्रीट, बम्बई १

- मूल्य : वार्षिक रु. ५–००

  एक प्रतिः रु. १–२५

निवेदन :

आचार्य श्री रजनीश जी के आगामी कार्यक्रमों की जानकारी के लिये कृपया अंतिम पृष्ठ देखें।

सूचना :

इस अंक से 'ज्योतिशिखा' का दूसरा वर्ष शुरू होता है। ग्राहक कृपया द्वितीय वर्षका चंदा रु. ५ म. ओ. से भेजें।

सत्य क्या है ?

सत्य क्या है? कोई सिद्धांत ? कोई सम्प्रदाय? कोई संगठन ? कोई शास्त्र? कोई शब्द ?

नहीं, सत्य सिद्धांत नहीं है,
क्योंकि सिद्धांत है मृत
और सत्य है स्वयं जीवन।
सत्य संप्रदाय नहीं है,
क्योंकि उस तक पहुंचनेका
कोई मार्ग ही नहीं है।
अज्ञात और ज्ञात मार्ग
अज्ञात तक कैसे ले जा सकते हैं?
सत्य संगठन भी नहीं है,
क्योंकि वह है कालातीत
अनुभूति.....अत्यन्त
वैयक्तिक और निजी।

उसे काल के प्रवाह में संगठित कैसे किया जा सकता है? सत्य शास्त्र नहीं है, क्योंकि सब शास्त्र मनुष्य कृत हैं, और सत्य अकृत्य है, असृष्ट है, अनादि है और अनन्त है। सत्य शब्द भी नहीं है, क्योंकि शब्द पैदा होते हैं और विलीन हो जाते हैं। जब कि सत्य सदा है, सदैव है, सनातन है और शाश्वत है। फिर सत्य क्या है? वस्तुतः 'क्या' की भाषा में सत्य है ही नहीं। वह तो है जो है, वही है! उसे सोचा विचारा नहीं जा सकता। यद्यपि उसमें हुआ जा सकता है। सोच विचार ही उसमें होने में बाधा है। संगीत की लयबद्धता में, प्रेमकी परिपूर्णता में, प्रकृतिके सौंदर्यमें जब व्यक्ति न होने जैसा ही हो जाता है तब जो है, वही सत्य है। व्यक्ति असत्य है। अव्यक्ति सत्य है। अहं असत्य है। ब्रह्म सत्य है।

आचार्य श्री रजनीश

विज्ञान और धर्म

(गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद में प्रवचन)

१६-१-१९६६

संकलन : श्री. अनूप सेठ

एक अमावस की गहरी अंधेरी रात्रि की बात है, और एक छोटे से गांव की घटना। आधी रात्रि बीत गई थी और सारा गांव गहरी नींद में डूबा हुआ था। कुत्ते भी भोंक भोंककर सोगये थे कि अचानक एक झोपड़े से उठ रही रोने और चिल्लाने की आवाज ने सभी को जगा दिया। अर्धनिद्रित लोग उस झोपड़े की ओर भागने लगे। बूढ़े और बच्चे सभी। उस सोये गांव में एक विक्षिप्त सी गति आ गई। किसी को कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। फिर भी लोग उस झोपड़े के आसपास इकट्ठे हो रहे थे। झोपड़े के भीतर से आवाज आ रही थी : "आग लगी है ! मैं जल रही हूं ! मेरा घर जल रहा है !" कुछ लोग तो पानी भरी बाल्टियां ले लेकर भी आ गये थे। लेकिन झोपड़े के आसपास आग लगे होने का कोई भी चिन्ह नहीं था! आग तो दूर, उस झोपड़े में एक दिया भी नहीं था। वह एक अत्यंत गरीब और बूढ़ी स्त्री की झोपड़ी थी। लोगों ने दरवाजे धकाये तो पाया कि वे खुले ही हुये हैं। कोई भागकर लालटेन ले आया तो भीड़ भीतर गई। बूढ़ी स्त्री जोर जोर से रो रही थी और छाती पीट रही थी और साथ ही वह चिल्लाती भी जाती थी : "आग लगी है ! मेरे घर में आग लगी है !" गांव के लोग यह दृश्य देखकर बहुत हैरान हुये। उन्होंने कहा : "क्या तुम पागल हो गई हो? आग कहां है? हम जरूर उसे बुझायेंगे; लेकिन वह है कहां?" यह सुन वह बूढी रोना बंदकर जोर जोर से हंसने लगी और बोली : "मैं पागल नहीं हूं, पागल हो तुम। आग तुम्हारे घरों में लगी है

और उसे बुझाने तुम यहां आये हो? जाओ और अपने घरों में आग को खोजो? मेरे भीतर भी आग लगी है। लेकिन उसे तुम कैसे देख सकोगे? और उसे तुम बुझाओगे भी कैसे? उसे तो मुझे ही बुझाना पड़ेगा। भीतर की आग स्वयं ही बुझानी पड़ती है। आग बाहर होती तो तुम जरूर उसे बुझा देते। लेकिन आग तो भीतर है। यह कह वह बूढ़ी फिर रोने लगी और चिल्लाने लगी : "मेरे घर में आग लगी है। मैं जल रही हूं।"

मैं भी उस रात्रि उस गांव में उपस्थित था। और क्या आप भी उपस्थित नहीं थे? शायद आप उस घटना को भूल गये हों। लेकिन मैं नहीं भूला हूं। मैंने आपको देखा था कि आप व्यर्थ ही नींद तोड़े जाने के कारण उस बूढ़ी स्त्री पर नाराज होते हुये वापस जाकर सो गये थे। और सुबह जब आप उठे थे तो उस घटना को भूल गये थे। वह पूरा गांव ही भूल गया था। पूरी पृथ्वी ही भूल गई है। उस छोटे से गांव में ही तो सारी मनुष्यता का आवास है।

आप तो सो गये थे, लेकिन मैं फिर नहीं सो सका। उस बूढ़ी औरतने सदा के लिये ही मेरी नींद तोड़ दी, क्योंकि मैंने जब आग खोजने के लिये भीतर झांका तो पाया कि आग तो नहीं थी, नींद थी और वह नींद ही आग थी। जीवन नींद में ही जल रहा है। वह निद्रा ही है: दुःख। वही है पीड़ा। वही है अग्नि। लेकिन आप उसे नहीं देख पाये क्योंकि आप पुनः सो गये और सपने देखने लगे। सपने नींद के साथी हैं। वे नींद को नहीं टूटने देते। वे तो अग्नि में घृत की भांति हैं। दुखद सपने जरूर थोड़ा सा धुंआं पैदा करते हैं और करवट लेने को मजबूर कर देते हैं। लेकिन सुखद सपनों की आशा में उन्हें सह लिया जाता है। और वे न हों तो सुखद सपने भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि उन्हीं की काली पृष्ठभूमि में तो सुखद सपनों की शुभ्र रेखायें उभर पाती हैं। ऐसे सुख और दुख के सपने दो बैलों की जोड़ी की भांति नींद की गाड़ी को चलाये जाते हैं। और नींद में जीवन खोता है क्योंकि जो सोया है वह जीवित ही कहां है?

और जीवन के दुख की यह कथा है बहुत पुरानी। मनुष्य जितनी ही पुरानी है यह कथा। लेकिन जो कहता है "जीवन जल रहा है," वह पागल प्रतीत होता है। और हम उससे पूछते हैं : "कहां है आग?" और हम पानी भरी बाल्टियां लेकर दौड़ते हैं कि आग को बुझा दें! लेकिन आग बाहर नहीं है इसलिये बाहर ही देखनेवाली आंखें उसे नहीं देख पाती हैं, और आग बाहर नहीं है इसलिये बाहर का पानी भी उसे कैसे बुझा सकता है?

लेकिन आग चाहे दिखाई पड़ती हो या न पड़ती हो, लेकिन जीवन में उसकी जलन तो सभी को अनुभव होती है।

वह है तो जलायेगी तो ही। चाहे हम उसे देखें या न देखें। उसका जलाना हमारे देखने पर निर्भर नहीं है। वस्तुतः तो हम उसे नहीं देखते हैं इसलिये वह हमें जला पाती है। हमारा न देखना ही उसका होना है। हमारे अंधेपन में ही तो उसके प्राण हैं। और जब वह जलाती है और मनुष्य उस अदृश्य और अज्ञात अग्नि से झुलसता और पीड़ित होता है, तो बजाय यह खोजने के कि उस अदृश्य अग्नि का मूलस्रोत कहां है, वह पानी की खोज में दौड़ता है। यह पानी की खोज ही संसार है। हम सब पानी की खोज में दौड़ रहे हैं। वह पानी चाहे धन का हो, चाहे यश का, चाहे मोक्ष का। पानी की दौड़ का एक अनिवार्य लक्षण है कि वह सदा बाहर होता है। और दूसरा अनिवार्य लक्षण है कि उसे पाने के लिये दौड़ना पड़ता है, क्योंकि जो बाहर है, वह अनिवार्यतः दौड़ाता है। और सबसे बड़ा मजा यह है कि जो पानी के लिये दौड़ता है, उसके भीतर की आग और जोर पकड़ती जाती है; क्योंकि दौड़ से वह और उत्तप्त होता है, और दौड़ से उसका ज्वर और तीव्र होता है। और फिर जितना वह दौड़ता है, उतनी ही आग तीव्र होती है; और जितनी आग तीव्र होती है, वह उतना ही और दौड़ता है। ऐसे एक दुष्ट चक्र पैदा हो जाता है। क्या इस चक्र का नाम संसार नहीं है? और एक तो पानी मिलता नहीं है, क्योंकि अधिक सरोवर मृगमरीचिका सिद्ध होते हैं, और यदि पानी मिल भी जाये तो भी व्यर्थ सिद्ध होता है क्योंकि बाहर का पानी भीतर की आग को कैसे मिटा सकता है? अर्थात् जिन्हें पानी मिल जाता है वे, और जिन्हें पानी नहीं मिलता वे अंततः समान ही असफल सिद्ध होते हैं। संसार और सफलता का कहीं भी मिलन नहीं है, क्योंकि संसार का दुष्ट चक्र असफल होने को आबद्ध ही है। संसार की असफलता उसकी आंतरिक अनिवार्यता है।

महान् सिकंदर की मृत्यु हुई। लाखों लोग उसे देखने आये। उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर थे, जो कि रिवाज के एकदम प्रतिकूल था। हाथ सदा सभी देशों में अर्थी के भीतर ही होते हैं। लोग इसका कारण पूछने लगे तो ज्ञात हुआ कि सिकंदरने चाहा था कि उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर ही रखे जावें ताकि लोग भलीभांति देख सकें कि उसके हाथ भी खाली ही हैं। वह भी संसार से खाली हाथ ही जा रहा है।! काश! सभी मृतकों के हाथ आर्थियों के बाहर रखे जा सकें, ताकि यह सत्य रोज रोज प्रत्येक को दिखाई पडने लगे कि संसार और भरे हाथों का कोई भी संबंध नहीं है!

मनुष्य के भीतर जो आग है, वह बाहर के किन्हीं भी उपायों से नहीं बुझ सकती है।

मनुष्य के भीतर जो दुख है, वह बाहर के किन्हीं भी सुखों से नहीं मिट सकता है।

मनुष्य के भीतर जो अंधकार है, बाहर के कोई भी सूर्य उसे नष्ट करने में असमर्थ हैं।

लेकिन, अबतक यही हुआ है। आग भीतर है और बुझाने की कोशिश बाहर है।

विज्ञान का जन्म इसी कोशिश से हुआ है।

मैं विज्ञान के विरोध में नहीं हूं। मैं तो विज्ञान का मित्र हूं। लेकिन यह जरूर कहना चाहूंगा कि वह अकेला मनुष्य के जीवन को शांति और आनन्द और अर्थ देने में समर्थ नहीं है, और न कभी समर्थ हो ही सकेगा। वह सुविधा दे सकता है, और सुविधायें ज्यादा से ज्यादा दुख के विस्मरण में क्षणिकरूप से सहयोगी हो सकती हैं, लेकिन थोड़े ही समय में सुविधायें स्वीकृत आदतें हो जाती हैं और दुख अपनी जगह वापस लौट आता है। सुविधाओं से दुख मिटता नहीं, बस केवल छिपता है। इसीलिये सुविधायें और सुविधाओं की मांग लाती है, और एक ऐसी दौड़ पैदा होती है जिसका कि कोई भी अंत नहीं है। और यह दौड़ ही एक तनाव और अशांति और दुख बन जाती है। यह अंतहीन दौड़ ही विक्षिप्तता बन जाती है।

शरीर के तल पर विज्ञान का अर्थ और प्रयोजन है। शरीर के तल पर कष्टों के निवारण में उसकी महती उपादेयता है। क्योंकि कष्ट बाहर हैं, इसलिये बाहर का पानी उन्हें बुझा भी सकता है। लेकिन मनुष्य के संताप का केन्द्र कष्ट नहीं हैं। निश्चय ही वे संताप की परिधि हैं। किन्तु केन्द्र तो आंतरिक दुःख ही है। और परिधि पर लाये गये सभी सुख इस दुख की विस्मृति में भले सहयोगी होते हों लेकिन वे इसे मिटा नहीं पाते हैं। वरन् उनके घिराव में इस आंतरिक पीड़ा का बोझ और प्रखर होकर वापस लौटने लगता है। यही तो कारण है कि बाह्य समृद्धि के उठते शिखरों के नीचे आंतरिक दरिद्रता और दैन्य की खाइयां अनिवार्यतः और भी मुंह बाकर खड़ी हो जाती हैं।

महावीर और बुद्ध को बाह्य सुखों के मध्य में यह दुःख पूर्ण स्पष्ट होकर दीखा हो तो आश्चर्य नहीं है।

लेकिन विज्ञान से आई समृद्धि के कारण क्रमशः पूरी मनुष्यता ही उस बोध के निकट पहुंच रही है।

विज्ञान की प्रगति के साथ ही साथ एक बड़ा भ्रम भी भंग हो गया है, कि बाह्य समृद्धि आंतरिक संगीत और शांति को जन्म दे सकती है।

विज्ञान के विकास ने ही विज्ञान की सामर्थ्य और असामर्थ्य को सुस्पष्ट कर दिया है।

विज्ञान की सीमा और शक्ति का बोध अब अस्पष्ट नहीं है।

विज्ञान न तो उस अर्थ में व्यर्थ है जैसा कि अंधे धार्मिक लोग सोचते थे और न उस अर्थ में पूर्ण जैसा कि अंधे विज्ञान प्रेमियों की धारणा थी।

असल में अंधापन चाहे वह किसी भी प्रकार का हो कभी भी तथ्यों को वैसा ही नहीं देख पाता है जैसा कि वे होते हैं। अंधापन सदा ही तथ्यों पर सिद्धांतों को लादता है। वस्तुतः तथ्यों पर सिद्धांतों को लादना ही तथ्यों को न देखना है। तथ्यों को सीधा देखने से आंखें खुलती हैं और जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह जीवन को बांधता नहीं बल्कि मुक्त करता है।

जीवन को पूर्व निर्धारित सिद्धांतों के ढांचे में देखने के कारण ही मनुष्य आजतक खंड़ित और पंगु रहा है। वह पूरे और समग्र जीवन को नहीं देख पाता है। उसने जीवन को बिना चुनाव के नहीं देखा है। इसलिये जीवन जैसा है अपनी पूर्णता, समग्रता और अखंडता में वह उसे जानने और जीने से वंचित रहा है।

धर्म के प्रभाव में बाह्य को अस्वीकृत किया गया था। और फिर उसके विरोध और प्रतिक्रिया में आंतरिक को अस्वीकृत कर दिया गया था। यह दूसरा अस्वीकार विज्ञान के इर्दगिर्द इकट्ठा हुआ था। धर्म और विज्ञान ऐसे एक दूसरे के विरोध में खड़े हो गये थे। यह विरोध धर्म और विज्ञान का नहीं, वरन् मनुष्य के चित्त में एक अति के विरोध में पैदा हुई दूसरी अति का विरोध था। मनुष्य का चित्त अतियों में डोलता है। घड़ी के पैन्डुलम की भांति उसकी गति है। एक अति दूसरी अति को जन्म दे देती है। और अतियों में सत्य कभी नहीं होता है। अति सदा ही अधूरी होती है, नहीं तो वह अति ही नहीं हो सकती है। सत्य तो मध्य में है। सत्य तो है वहां जहां दोनों अतियां शून्य और शांत हैं। अतियों के अतिक्रमण में ही सत्य है।

जीवन न तो एकांततः बाह्य है और न एकांततः आंतरिक ही। जीवन तो दोनों ही है या दोनों ही नहीं है। जीवन मात्र आंतरिक में देखने से केन्द्र ही रह जाता है और परिधि खो जाती है जबकि परिधि के कोई केन्द्र कैसे हो सकता है! परिधि है तो ही केन्द्र है। और जीवन को मात्र बाह्य में देखने से केन्द्र

खो जाता है और मात्र परिधि रह जाती है जबकि बिना केन्द्र के परिधि हो ही कैसे सकती है ? जीवन तो दोनों में है और इसलिये जीवन किसी एक में ही नहीं है।

विज्ञान बाह्य की खोज है, परिधि की। धर्म आंतरिक की खोज है, केन्द्र की। विज्ञान पदार्थ में प्रवेश है। धर्म परमात्मा में। बाह्य और आंतरिक विरोध में दिखाई पड़ते हैं किन्तु वस्तुतः वे किसी एक ही सत्य के दो पहलू हैं। उनका विरोधाभास मनुष्य के शब्दों में ही है। मनुष्य की खंडित दृष्टि ने सभी कुछ खंडित कर डाला है, जबकि जीवन तो एक है और अखंड है।

जीवन आंतरिक और बाह्य की अखंडता है। जो स्वांस भीतर आती है, वही बाहर जाती है। भीतर और बाहर उसकी ही यात्रा के दो बिन्दु हैं। किन्तु स्वयं स्वांस क्या है ? वह आंतरिक है या बाह्य ? वह दोनों है और दोनों नहीं है। अंतर के बिन्दु से देखने पर वह आंतरिक है और बाह्य के बिन्दु से देखने पर बाह्य और स्वांस के स्वरूप में ही देखने पर वह दोनों है और दोनों नहीं है। ऐसा ही जीवन भी है। वह एक बिन्दु से बाह्य है, एक बिन्दु से आंतरिक और स्वरूप से दोनों है और दोनों नहीं है। बाह्य बिन्दु विज्ञान है। अंतर बिन्दु धर्म। और फिर है जीवन का स्वरूप. . . उसे तो वही जान पाता है जो अंतर बाह्य से शून्य होता है। क्योंकि सब कोणों से, दृष्टियों से, बिन्दुओं से जो शून्य हो जाता है, वही जीवन की समग्रता में प्रतिष्ठा पाता है। जब तक दृष्टि है, कोण है, बिन्दु है तब तक खंड है क्योंकि तब तक मैं कहीं हूं और इसलिये सब कहीं नहीं हो सकता हूँ। जहां दृष्टि नहीं है, कोण नहीं है, बिन्दु नहीं है, वहां मैं भी नहीं हूं और तब जो है, बस वही है। वही है सत्य। सत्य कोई दृष्टि नहीं है। वह तो वहां है जहां सब दृष्टियां शून्य हो जाती हैं। दृष्टियां जहां नहीं हैं, वहीं उसका दर्शन है, जोकि सत्य है। और सत्य का अनुभव ही वह जल है जो कि जीवन में लगी अग्नि को बुझा सकता है।

लेकिन, मनुष्य जहां स्वयं को सदा पाता है, वह चित्त दशा अंतर और बाह्य में विभाजित है। इस विभाजन पर ही मनुष्य स्वयं को पाता है। उसका अहं बोध ही इस विभाजन के पीछे है। वह है इसलिये यह विभाजन है। यह विभाजन है इसलिये वह है। इसी अग्नि में तो हम सब खड़े हैं और जल रहे हैं। फिर बाह्य की ओर जो जाता है, वह पाता है कि विभाजन और तनाव बढ़ता जा रहा है क्योंकि उसकी परिधि बढ़ती ही जाती है, और केन्द्र दूर से दूर होता जाता है। इसीलिये विज्ञान का आरंभ तो है लेकिन अंत नहीं। इस-

लिये विज्ञान एक यात्रा भर है। वह साधन मात्र है। साध्य वह नहीं है। वह चलता है लेकिन कहीं पहुंचता नहीं है।

धर्म है अंतर की दिशा। शायद वह दिशा नहीं, अदिशा है। क्योंकि दिशायें तो सब बाहर की ओर ही होती हैं।

धर्म है अंतर की ओर गति। लेकिन नहीं, शायद वह गति नहीं, अगति है। क्योंकि गतियां तो सब स्वयं से दूर ही ले जाती हैं।

धर्म है केन्द्र की ओर दृष्टि। लेकिन नहीं, द्रष्टा और दृष्टि और दृश्य का भेद तो है परिधि पर. . . . केन्द्र पर तो ऐसा कोई भेद ही नहीं है।

विज्ञान तो परिभाष्य है, लेकिन फिर धर्म क्या है?

धर्म परिभाष्य नहीं है। जो बाह्य है, उसकी ही परिभाषा हो सकती है। जो आंतरिक है उसकी परिभाषा नहीं हो सकती है।

वस्तुतः जहां से परिभाषा शुरू होती है, वहीं से विज्ञान शुरू हो जाता है, क्योंकि वहां से बाह्य शुरू हो जाता है।

विज्ञान है शब्द में। धर्म है शून्य में। क्योंकि परिधि है अभिव्यक्ति और केन्द्र है अज्ञात और अदृश्य और अप्रगट। वृक्ष और बीज की भांति ही वे हैं। विज्ञान वृक्ष है। धर्म बीज है।

विज्ञान को जाना जा सकता है। धर्म को जाना नहीं जा सकता, लेकिन धर्म में हुआ जा सकता है और धर्म में जिया जा सकता है।

विज्ञान ज्ञान है। धर्म जीवन है।

इसलिये विज्ञान की शिक्षा हो सकती है। धर्म की कोई शिक्षा नहीं हो सकती है।

विज्ञान है ज्ञात और ज्ञेय की खोज। धर्म है अज्ञात और अज्ञेय में निमज्जन। विज्ञान है पाना। धर्म है मिटना। इसलिये विज्ञान बहुत हैं, लेकिन धर्म एक ही है। इसलिये ही विज्ञान है विकासशील। किन्तु धर्म शाश्वत है।

जीवन की परिधि की ओर जाने से तो केन्द्र से दूर निकल जाते हैं, लेकिन एक बड़ा आश्चर्य है कि जो केन्द्र की ओर जाता है, वह परिधि से दूर नहीं निकलता है। उल्टे परिधि और निकट आती जाती है। और ठीक केन्द्र पर पहुंचने पर तो परिधि विलीन ही हो जाती है क्योंकि केन्द्र भी विलीन हो जाता है। परिधि पर परिधि भी है और केन्द्र भी है। केन्द्र पर न केन्द्र है न परिधि है। आंतरिक तो अंततः उसका द्वार बन जाता है जो कि न आंतरिक है न बाह्य है। इसलिये मैं कहता हूं कि विज्ञान का तो धर्म से विरोध हो भी सकता

है, लेकिन धर्म का विज्ञान से विरोध असंभव है। बाह्य का आंतरिक से विरोध हो सकता है लेकिन आंतरिक के लिये तो कोई बाह्य है ही नहीं। पुत्र का मां से विरोध हो सकता है लेकिन मां के लिये तो पुत्र का होना उसका स्वयं का होना है ही।

धर्म विज्ञान के विरोध में नहीं हो सकता है, और जो हो, वह धर्म नहीं है।

धर्म संसार के विरोध में भी नहीं है। संसार धर्म के विरोध में हो सकता है, लेकिन धर्म संसार के विरोध में नहीं हो सकता है।

धर्म सर्व अविरोध है और इसलिये तो धर्म मुक्ति है। जहां विरोध है वहां बंधन है।

और जहां विरोध है वहां अशांति है, वहां अग्नि है।

वह बूढ़ी स्त्री सही तो चिल्लाती थी : "मेरा घर जल रहा है। मेरे जीवन में आग लगी है!"

और लोग पहुंचे थे विज्ञान की बाल्टियां लेकर, बाह्य का जल लेकर तो वह हंसने लगी थी। वह आज भी हंस रही है क्योंकि जीवन में आग आज भी लगी है। रात्रि आज भी अमावस की है। गांव आज भी सोते से जाग पड़ा है। पड़ौसी आज भी दौड़े चले आये हैं, लेकिन फिर वे, वे ही बातें पूछ रहे हैं। वे पूछते हैं : "आग कहां है? दिखाई तो नहीं देती। बताओ। हम उसे बुझा दें, हम पानी की बाल्टियां ले आये हैं।" हर रात्रि यही हो रहा है। वही बात हर रात दुहरती है। लेकिन आग है भीतर, और पानी है बाहर का। अब आग बुझे तो बुझे कैसे? आग और बढ़ती ही जाती है और आदमी उसमें झुलसता ही जा रहा है! यह भी हो सकता है कि आग तो न बुझे और आदमी को ही बुझना पड़े। और यह भी हो सकता है कि आग के चरम उत्ताप में आदमी परिवर्तित हो जावे और उसकी नींद टूट जावे और इस आग से वह और भी निखरा हुआ स्वर्ण होकर बाहर निकले। यह स्मरण रहे कि विज्ञान आग को नहीं बुझा सका है। उल्टे विज्ञान की सभी खोजें आग को और प्रज्वलित करने में ही सहयोगी हो गई हैं।

विज्ञान के लिये मनुष्य ने कितना श्रम नहीं किया है? अथक खोज से विज्ञान खड़ा हुआ है। लेकिन आग जहां थी, वहीं है। उसकी लपटें जरूर उसी मात्रा में विशाल हो गई हैं जिस मात्रा में विज्ञान ने मनुष्य के हाथों में शक्ति दे दी है। यह शक्ति उस अग्नि का ईंधन बन गई है।

अज्ञान के हाथों में शक्ति आत्मघाती हो उठे तो इसमें आश्चर्य ही क्या

है ? मुझे तो पिछले दो महायुद्ध मनुष्यता द्वारा सार्वलौकिक आत्मघात की पूर्ण तैयारियां ही मालूम पड़ते हैं। दो महायुद्धों में शायद १० करोड़ लोगों की हत्या हुई है। और तैयारी आगे भी जारी है। तीसरा महायुद्ध होगा अंतिम। इसलिये नहीं कि फिर मनुष्य युद्ध नहीं करेगा वरन् इसलिये कि फिर मनुष्य युद्ध करने को बचेगा ही नहीं ! स्वयं को नष्ट करने की मनुष्यता की आतुरता अकारण भी नहीं है। शायद बाह्य की एकांगी खोज से जो विफलता हाथ आई है, उसके विषाद में ही आत्मघात का यह विराट आयोजन चल रहा है। मनुष्य के हाथ सारी दौड़ धूप के बाद भी खाली के खाली हैं। जीवन ही रिक्त, अर्थहीन और खाली है। सिकन्दर ने मरते समय ही जाना कि उसके हाथ खाली हैं, इसलिये मरने की जिम्मेदारी उसने स्वयं अपने ऊपर नहीं ली। शायद अब मनुष्य ने जीते जी ही यह जान लिया है, इसलिये वह स्वयं ही अपने को मारने को तैयार है। वह मृत्यु के लिये परमात्मा को भी कष्ट नहीं देना चाहता है ! जब हाथ खाली हैं, और आत्मा ही खाली है तो जीने का प्रयोजन ही क्या है.....अर्थ ही क्या है.... अभिप्राय ही क्या है ?

जीवन है अर्थहीन, क्योंकि जीवन से मनुष्य परिचित ही नहीं है।

और जिसे उसने जीवन जाना है, वह निश्चय ही अर्थहीन है क्योंकि वह जीवन ही नहीं है।

जीवन आंतरिक को खोकर बाह्य की ही दौड़ हो तो निश्चय ही अर्थहीन हो जाता है। क्योंकि तब बच जाती हैं... वस्तुयें, वस्तुयें और वस्तुयें। आत्मा को बेचकर जो इन वस्तुओं को इकट्ठा कर लेता है, वह अपने ही हाथों अपनी मृत्यु जुटा लेता है।

और बाह्य के विरोध और शत्रुता में जो आंतरिक की ओर चलता है, वह भी पंगु हो जाता है क्योंकि उसका जीवन भी अंतर्द्वन्द में शांति और संगीत को खो देता है और आत्मा तो केवल उन्हें ही मिलती है जो संगीत में और सौन्दर्य में जीते हैं। बाह्य की शत्रुता एक भांति की कुरूपता पैदा करती है। और बाह्य का विरोध एक भांति की जडता ले आता है। यह अंतर्द्वन्द अहंकार को तो पुष्ट करता है लेकिन इससे आत्मा उपलब्ध नहीं होती है।

जीवन है बाह्य और अंतर के मिलन में। जीवन है बाह्य और अंतर के संगीत में। जीवन है बाह्य और अंतर के मध्य में। विरोध से, तनाव से, द्वन्द और दमन से वह उपलब्ध नहीं होता है। वह तो उपलब्ध होता है शांति से, सरलता से, सहजता से। और शांति, सरलता और सहजता आती है सजगता से।

सजगता. . . . . जीवन के प्रति सजगता. . . . जो है, उसके प्रति सजगता। सजगता यानी अमूर्च्छा। सजगता यानी जागृतचित्तता। सजगता के आलोक में क्रमशः बाह्य से अंतर की ओर गति होती है। और फिर अंतर से उसकी ओर गति होती है जो न बाह्य है, न अंतर है, जो कि बस है।

इसलिये मैं कहता हूँ कि निद्रा ही, मूर्च्छा ही, तन्द्रा ही वह अग्नि है जिसमें जीवन जलता और पीड़ित होता है। और सजगता, अमूर्च्छा, होश ही वह आलोक है, जिसमें जीवन परमजीवन में परिवर्तित होता है। वह शक्ति ही जो कि निद्रा में जलानेवाली अग्नि है, जागरण में जीवनदायी आलोक बन जाती है।

मनुष्य सजग हो तो उसके हाथों में सारी शक्तियां ही मंगलदायी हैं। क्योंकि मूर्च्छा और बेहोशी के अतिरिक्त और कोई अमंगल नहीं है।

शक्तियां तो सदा ही तटस्थ हैं, और निष्पक्ष हैं। उनसे क्या होगा यह उनपर नहीं, उनके उपयोग करनेवाले मनुष्य पर ही पूर्णतः निर्भर है।

धर्म में प्रतिष्ठित मानवीय चेतना के लिये विज्ञान की अग्नि भी आत्म-विनाशी नर्क नहीं, वरन् आत्मसृजन का स्वर्ग बन सकती है।

धर्म से संयुक्त होकर विज्ञान एक बिल्कुल ही अभिनव मनुष्यता का जन्म बन सकता है।

एक बादशाह ने किसी वृद्ध फकीर से पूछा था, "मैं सुनता हूं कि बहुत सोना बुरा है, लेकिन मुझे नींद बहुत आती है। आपकी राय क्या है?" वह वृद्ध फकीर बोला था : "अच्छे लोगों का सोना बुरा होता है लेकिन बुरे लोगों का सोना ही अच्छा होता है। क्योंकि वे जितने देर जागे हैं, संसार को उतना नर्क बनाने के लिये श्रमरत रहते हैं।"

शांति के केन्द्र पर शक्ति की परिधि शुभ होती है। किन्तु अशांति के केन्द्र पर तो अशक्ति ही शुभ है।

धर्म के हाथों में विज्ञान शुभ है। किन्तु अधर्म के हाथों में उसे कैसे शुभ माना जा सकता है?

ज्ञान के साथ शक्ति शुभ है। लेकिन अज्ञान और शक्ति का मिलन तो दुर्घटना बनेगा ही? मनुष्य ऐसी ही दुर्घटना में फंस गया है। विज्ञान ने दी है शक्ति। लेकिन वह शांति कहां है जो उसका सम्यक् उपयोग कर सके? शांति नहीं होगी तो होगा विनाश। और शांति होगी तो जीवन के और सृजन के अभूतपूर्व मार्ग प्रशस्त हो सकते हैं।

मनुष्य के बाहर है शक्ति और भीतर है अशांति। गणित बिल्कुल सीधा और साफ है। यह संयोग ही संकट है।

अशांत और दुखी चित्त दूसरों को भी दुखी और अशांत करने में सुख का अनुभव करता है। दुखी चित्त के लिये इसके अतिरिक्त और कोई सुख होता ही नहीं है। वस्तुतः जो हमारे पास होता है, उसे ही तो हम दूसरों को दे सकते हैं!

जो दुखी है, वह दूसरों को सुख में देखकर और दुख में पड़ जाता है। उसका सुख तो यही होता है कि कोई सुख में न हो। यही हो रहा है। यही होता रहा है। और दुखी, अशांत और अंधकार से भरे मनुष्य के हाथों में विज्ञान ने ऐसी शक्ति रखदी है जो कि समग्र जीवन का विनाश भी बन सकता है। मनुष्यता को आत्मघात के लिये पूर्ण उपकरण उपलब्ध हो गये हैं। और अब जो महामृत्यु के लिये समारोहपूर्वक तैयारी चल रही है, उसे आकस्मिक नहीं कहा जा सकता है। हम सब किस कार्य में संलग्न हैं? यह विराट श्रम किस दिशा में हो रहा है? हम किसलिये जी रहे हैं और मर रहे हैं? मृत्यु को लाने के लिये .... महामृत्यु को लाने के लिये। पहले तथाकथित धार्मिक लोग जीवन से छुटकारे के लिये व्यक्तिगत रूप से श्रम और साधना करते थे। अब विज्ञान ने सामूहिक और सार्वजनिक रूप से जीवन से छुटकारे के लिये द्वार खोल दिये हैं। इस बहती गंगा में कौन हाथ न धो लेना चाहेगा? मृत्यु के इस अद्भुत समारोह में हम सभी एक दूसरे के लिये सहयोगी और साथी हैं! जीवन के लिये जो साथी और सहयोगी नहीं हैं, वे भी एक दूसरे को मृत्यु में भेजने के लिये स्वयं को मिटाने के लिये भी सहर्ष तैयार हैं! अद्भुत है बलिदान की यह भावना, त्याग की यह वृत्ति। जीवन में जो शत्रु हैं, मृत्यु के महायज्ञ में वे सब संगी साथी हो गये हैं।

क्या मैं कहूं कि मनुष्य विक्षिप्त हो गया है? शायद यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे यह भ्रम पैदा होता है कि जैसे वह पहले स्वस्थ था! मनुष्य तो वैसा ही है, जैसा सदा से था। सिर्फ वे शक्तियां जो पहले उसके हाथ में नहीं थीं, अब उसके हाथ में आ गई हैं और उसने ही उसकी छिपी विक्षिप्तता प्रगट कर दी है। शक्ति और सामर्थ्य पाकर कोई पागल नहीं होता है, बस शक्ति की सुविधा पाकर जो पागलपन अप्रगट होता है, वही प्रगट हो जाता है। मनुष्य की विक्षिप्तता पूरी तरह प्रगट हो गई है। ऐसे इस उद्घाटन के लिये विज्ञान के प्रति कृतज्ञ होना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य के सारे वस्त्र छिन गये हैं, और वह

बिल्कुल नग्न खड़ा है। इस नग्नता में वह नष्ट भी हो सकता है और एक बिल्कुल नये रूप में जन्म भी पा सकता है। स्वयं के समक्ष इस भांति नग्न खड़ा होना चेतना के नये आरोहण के लिये बिल्कुल अपरिहार्य जो है। मनुष्य के ऊपर झूठे वस्त्र खतरनाक थे। झूठे वस्त्रों से तो सच्ची नग्नता बेहतर है। क्योंकि झूठे वस्त्र दूसरों को तो धोखा देते ही हैं, स्वयं को भी धोखा देते हैं। इस आत्म-बंचना के कारण ही तो आज तक मनुष्य में कोई मौलिक क्रांति नहीं हो पाई है। लेकिन अब वह क्षण आ गया है कि हम मनुष्य की विक्षिप्तता को उसके प्रगट रूप में देख सकते हैं। और जो रुग्णता प्रगट हो निश्चय ही उससे मुक्त होने के लिये कुछ किया जा सकता है।

मनुष्य जाति के ३ हजार वर्षों के छोटे से इतिहास में अनुमानतः १५ हजार युद्ध हुये हैं। प्रतिवर्ष ५ युद्ध ! यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है ? और ये सब युद्ध भी हुये हैं शांति के लिये। यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है ? पृथ्वी ने मनुष्य के आगमन के बाद दो ही प्रकार के काल खंड जाने हैं : युद्ध के कालखंड और युद्ध की तैयारी के कालखंड। शांति का कालखंड तो आजतक जाना ही नहीं गया है क्योंकि दो युद्धों के बीच का जो समय है, वह शांति का नहीं, युद्ध की तैयारी का ही समय होता है। यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है ? क्या मनुष्य लड़ने के लिये ही जी रहा है ? विज्ञान ने जरूर इस रोग को उस चरम स्थिति पर पहुंचा दिया है जहां कि या तो रोगी ही नहीं बचेगा या यदि उसे बचना हो तो फिर रोग को छोड़ना ही होगा चाहे रोग कितना ही पुराना और प्यारा क्यों न हो। रोग भी पुराने होने से प्यारे हो जाते हैं। और परंपरागत होने से उन्हें भी एक आदृत स्थान प्राप्त हो जाता है। किसी भी चीज का पुराना होना उसके बने रहने के लिये दलील हो जाती है और यह युद्ध की बीमारी तो सबसे ज्यादा पुरानी धरोहर है। यह तो मनुष्य की सबसे ज्यादा गहरी संस्कृति है।

एक कहानी कहना चाहता हूं। कहानी बिल्कुल ही झूठी है। लेकिन जो वह कहती है वह एकदम सत्य है... सौ प्रतिशत सत्य है। दूसरे महायुद्ध के बाद की बात है। परमात्मा ने युद्ध में मनुष्य को मनुष्य के साथ जो करते देखा था, उससे वह बहुत चिन्तित था। लेकिन चिन्ता उस दिन उसकी परम हो गई थी, जिस दिन उसके दूतों ने बताया कि मनुष्य जाति अब तीसरे महायुद्ध की तैयारी में संलग्न है ! परमात्मा की आंखों में मनुष्य की इस विक्षिप्तता से आंसू आ गये थे और उसने तीन बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को अपने पास

बुलवाया था। इंग्लैण्ड, रूस और अमरीका के प्रतिनिधि बुलाये गये थे। परामात्मा ने उनसे कहा: "यह मैं सुन रहा हूं कि तुम अब तीसरे महायुद्ध की तैयारी में लग गये हो? क्या दूसरे महायुद्ध से तुमने कोई पाठ नहीं सीखा है?" मैं वहां होता तो कहता कि मनुष्य जाति सदा ही पाठ सीखती रही है! पहले महायुद्ध से दूसरे के लिये पाठ सीखा था! अब दूसरे से तीसरे के लिये ज्ञान पाया है। लेकिन मैं वहां नहीं था, और इसलिये जो परमात्मा से नहीं कह सका, वह आपसे कहे देता हूं। परमात्मा ने अपनी सदैव की आदत के अनुसार फिर उनसे कहा: 'मैं तुम्हें एक एक मनचाहा वरदान दे सकता हूं, यदि तुम यह आश्वासन दो कि इस आत्मघाती वृत्ति से बचोगे। दूसरा महायुद्ध ही काफी है। मैं मनुष्य को बनाकर बहुत पछता लिया हूं, अब बुढापे मे मुझे और मत सताओ। क्या तुम्हें पता नहीं है कि मनुष्य को बनाकर मैं इतने कष्टों में पड़ गया कि फिर उसके बाद में मैंने कुछ भी निर्मित नहीं किया है?"

मैं वहां होता तो कहता: "हे परमात्मा! यह बिल्कुल ही ठीक है। दूध का जला छांछ भी फूंक फूंक कर पीता है।" लेकिन, मैं वहां नहीं था!

अमरीका के प्रतिनिधि ने कहा: "हे परमपिता! हमारी कोई बड़ी आकांक्षा नहीं है। एक छोटी सी हमारी कामना है। वह पूरी हो जावे तो तीसरे महायुद्ध की आवश्यकता ही नहीं है।"

परमात्मा क्षण भर को प्रसन्न दिखाई पड़ा था। लेकिन जब अमरीका के प्रतिनिधि ने कहा: "पृथ्वी तो हो लेकिन पृथ्वी पर रूस का कोई नामोनिशान न रह जाये, बस छोटी सी और एकमात्र, यही हमारी कामना है।" तो वह पुनः ऐसा उदास हो गया था जैसा कि मनुष्य को बनाकर भी उदास न हुआ होगा। निश्चय ही मनुष्य अपने बनाये जाने का उससे पूरा पूरा बदला ले रहा था!

फिर परमात्मा ने रूस की तरफ देखा। रूस के प्रतिनिधि ने कहा: "कामरेड, पहली बात तो यह कि हम मानते नहीं कि आप हैं। बरसों हुये हमने अपने महान् देश से आपको सदा के लिये विदा कर दिया है। वह भ्रम हमने तोड़ दिया है जो कि आप थे। लेकिन नहीं, हम पुनः आपकी पूजा कर सकते हैं, और उजड़े और वीरान पड़े चर्चों और मंदिरों और मस्जिदों में फिर आपको रहने की भी आज्ञा दे सकते हैं। पर एक छोटा सा काम आप भी हमारा कर दो। दुनिया के नक्शे पर हम अमरीका के लिये कोई रंग नहीं चाहते हैं। वैसे यदि यह आपसे न हो सके तो चिन्तित होने की भी कोई बात नहीं। देर अबेर हम स्वयं बिना आपकी सहायता के भी यह कर ही लेंगे। हम बचें या न बचें लेकिन यह कार्य तो हमें

करना ही है। यह तो एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है, जिसे कि सर्वहारा के हित में हमें करना ही पड़ेगा। मनुष्य का भविष्य अमरीका की मृत्यु में ही निहित है।"

और फिर आंसुओं में डूबी आंखों से परमात्मा ने इंग्लैण्ड की ओर देखा। और इंग्लैंड के प्रतिनिधि ने क्या कहा ? क्या आप कल्पना भी कर सकते हैं ? नहीं। नहीं. . . . उसकी कल्पना कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि वह बात ही ऐसी अद्वितीय है।

इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि ने कहा: "हे महाप्रभु ! हमारी अपनी कोई आकांक्षा नहीं है। बस दोनों मित्रों की आकांक्षायें एक ही साथ पूरी कर दी जावें तो हमारी आकांक्षा अपने आप ही पूरी हो जाती है !"

ऐसी स्थिति है।

क्या यह कहानी झूठी है ?

लेकिन, इससे सच्ची कहानी और क्या हो सकती है ?

और यह किसी एक राष्ट्र की बात नहीं है। सभी राष्ट्रों की बात है। राष्ट्रीयता जहां भी है, वहां युद्ध है। वह ज्वर ही तो अंततः युद्ध लाता है।

और यह राष्ट्रों की ही बात नहीं है। व्यक्ति व्यक्ति की भी यही बात है। क्योंकि, जो ज्वर व्यक्ति व्यक्ति में न हो, वह राष्ट्रों में भी कैसे हो सकता है ? व्यक्ति ही तो है इकाई, उस सबकी, जो कि मनुष्य के जगत् में कहीं भी घटित होता है।

गंगा चाहे प्रेम की हो चाहे घृणा की, गंगोत्री तो सदा व्यक्ति ही है।

और चाहे जीवन के विराट आकाश में घृणा के ऐसे बादल घिरे हों कि सारी पृथ्वी ही उनसे ढंक गई हो, तो भी व्यक्ति के छोटे से हृदय में ही खोजना होगा उस मूल उत्स को, जहां से क्रोध, घृणा, वैमनस्य, महत्वाकांक्षा, दुख, चिन्ता और संताप के छोटे छोटे वाष्प खंड धीरे धीरे उठकर सारे आकाश को घेर लेते हैं। और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की घृणा और हिंसा की जब मुठभेड़ होती है तो उनमें जोड़ नहीं, गुणन हो जाता है। यह गुणन फैलता ही जाता है और फिर मृत्यु के जो बादल आकाश में छा जाते हैं, वे सब व्यक्तियों की हिन्सा के जोड़ से बहुत ज्यादा होते हैं। लेकिन यह गुणन प्रक्रिया कोई चिन्ता की बात नहीं है, क्योंकि जो घृणा के संबंध में हुआ है, वही प्रेम के संबंध में भी हो सकता है। पृथ्वी पर ऐसा प्रेम हो सकता है जो कि सभी व्यक्तियों के प्रेम के जोड़ से अनंतगुना ज्यादा हो। उस प्रेम का नाम ही परमात्मा है। लेकिन अभी जो है वह है घृणा का दैत्य। चाहें तो कहें कि यही शैतान है !

लेकिन एक बात स्मरण रहे कि न परमात्मा इससे भिन्न है और न शैतान। वे मनुष्य के ही सृजन हैं। मनुष्य में जो शुभ है, वह प्रभु है। जो सुन्दर है, वह स्वर्ग है। जो अशुभ है, वह नर्क है। मनुष्य स्वयं को जैसा बनाता है, वैसा ही वह जगत को भी निर्मित करता है। मैं जो हूं, वही जगत् को मेरा दान है। उस दान से ही मैं जगत् को भी निर्मित करता हूं। ऐसे प्रत्येक व्यक्ति सृष्टा है।

यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि यह जो कुरूप जगत् है, हिन्सा, क्रोध, घृणा और युद्ध का यह जो तांडव चल रहा है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति साझीदार है। इसका उत्तरदायित्व प्रत्येक पर है। प्रत्येक इसके लिये उत्तरदायी है। बड़े से बड़े युद्ध के लिये छोटेसे छोटा व्यक्ति भी उत्तरदायी है।

क्योंकि, व्यक्ति ही तो फैलकर समाज बन जाता है।

समाज और कहां है?

व्यक्ति ही तो समाज है।

और व्यक्ति है महत्वाकांक्षा के ज्वर से ग्रस्त। प्रत्येक कुछ होना चाहता है। और इस कुछ होने की दौड़ में वह भूल ही जाता है उसे, जो कि वह है! और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक केवल वही हो सकता है जो वह है। स्वयं के अतिरिक्त और अन्यथा होना असंभव है। क्योंकि जो बीज में नहीं है, वह वृक्ष में कैसे हो सकता है? लेकिन प्रत्येक वही होने की दौड़ में है जो वह नहीं है। इससे एक ज्वरग्रस्त जीवन पैदा होता है जो कि अनिवार्यतः हिंसा और विध्वंस में ले जाता है। व्यक्ति जो बीजतः होता है, उसके विकास में न तो दौड़ होती है और न ज्वर होता है और न विक्षिप्तता होती है। उसमें तो एक शांत और मौन और अदृश्य विकास होता है। उसमें तो जो गति होती है, उसकी पगध्वनियां भी नहीं सुनाई पड़ती हैं। लेकिन व्यक्ति जो नहीं है, उसके होने में शोरगुल तो बहुत होता है, और होता कुछ भी नहीं है। यह शोरगुल, यह संघर्ष, यह तनाव, यह अशांति पैदा होती है प्रतिस्पर्धा से। व्यक्ति जो है, वही होने में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती है। वह होता है बस अपने में, अन्य की तुलना में नहीं। वैसे विकास में अन्य की कोई प्रतिमा ही नहीं होती है। इसलिये, चित्त कलह से मुक्त शांत गति करता है। शक्ति का संघर्ष में, स्पर्धा में होनेवाला अपव्यय बचता है और व्यक्ति शक्ति का संरक्षित सरोवर बन जाता है। शक्ति का, ऊर्जा का यह शांत संचय जीवन को एक ऐसा गत्यात्मक रूप देता है जिसमें कि गति तो होती है पूर्ण, लेकिन घर्षण शून्य होता है। लेकिन जहां व्यक्ति अन्य की तुलना में जीता है, वहां तो वह जीता ही नहीं है। जीवन तो

है स्वयं में। वह अन्य में नहीं है-अन्य की तुलना में है ईर्ष्या, क्रोध, हिंसा। और वे जीवन नहीं हैं, वे तो हैं मृत्युयें। इन मृत्युओं में व्यक्ति जीता हो तो जगत् जैसा कुरूप हो गया है, वैसा होना अनिवार्य ही है। और फिर जब सब भांति की महत्वाकांक्षाओं और प्रतिस्पर्धाओं में जीने के बाद भी आनन्द के द्वार नहीं खुलते हैं और दुख का नर्क और गहरे से गहरा होता जाता है तो व्यक्ति इस विफलता और विषाद् में सारे जगत् से ही प्रतिशोध लेने लगता है। वह हो जाता है विध्वंसक। वह, जो स्वयं को सृजन नहीं कर पाया है उसके प्रतिशोध में अन्यों का विध्वंस करने लगता है। आत्मसृजन का अभाव विध्वंस और हिंसा बन जाता है। इसीलिये, मैं कहता हूं कि महत्वाकांक्षा के आधार पर खड़ा जगत् कभी भी अहिन्सक नहीं हो सकता है फिर चाहे यह महत्वाकांक्षा संसार की हो या मोक्ष की। जहां महत्वाकांक्षा है, वहां हिन्सा है। वस्तुतः तो महत्वाकांक्षा ही हिन्सा है।

और विज्ञान ने महत्वाकांक्षी मनुष्य के हाथों में असीम शक्ति दे दी है।

अब यदि धर्म ने मनुष्य के चित्त से महत्वाकांक्षा न छीनी तो विनाश सुनिश्चित है।

यह महत्वाकांक्षा पैदा ही क्यों होती है और कहां से होती है? महत्वाकांक्षा पैदा होती है, हीनता के भाव से। व्यक्ति है स्वयं के अंतस् में अत्यंत दीन हीन। वहां है सब रिक्त और शून्य। वहां कुछ भी नहीं है। वहां है सब अभाव.... सब भांति का खालीपन। इस अभाव, इस रिक्तता से ही वह भागता है। और इस पलायन के लिये ही वह महत्वाकांक्षा के लक्ष्य निर्मित करता है, ताकि वे उसे दौड़ने के लिये ज्वर और त्वरा दे सकें। मूलतः वह किसी स्थान के लिये नहीं भागता है, वरन् किसी स्थान से भागता है। लेकिन मात्र किसी स्थान से भाग जाना बिना किसी स्थान के लिये एकदम असंभव है, इसलिये वह लक्ष्य और गन्तव्य निर्धारित करता है। अभाव से पलायन है मूल में, लेकिन प्रगटतः दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्ति कहीं पहुंचने के लिये दौड़ रहा है। वस्तुतः हम भाग रहे हैं स्वयं से बचने के लिये, लेकिन इस तथ्य को देखना भी दौड़ की हत्या करना है; इसलिये कहीं पहुंचने की, किन्हीं मंजिलों की, किन्हीं आदर्शों की, किन्हीं मोक्षों की हम बातें कर रहे हैं। यह आत्मवंचना बहुत गहरी है और जो इस आत्मवंचना को तोड़ने का साहस नहीं करता है, वह महत्वाकांक्षा के ज्वर से कभी स्वस्थ नहीं हो सकता है। उसकी एक महत्वाकांक्षा व्यर्थ सिद्ध होगी तो वह दूसरी निर्मित कर लेगा। संसार की

महत्वाकांक्षायें व्यर्थ होंगी तो वह मोक्ष की, ब्रह्म को पाने की महत्वाकांक्षाओं को बना लेगा। संसारी संसार से छूट भी नहीं पाता है कि संन्यासी हो जाता है! और ऐसे महत्वाकांक्षा नये वस्त्रों में पुनः वापिस लौट आती है। और क्या महत्वाकांक्षा ही संसार नहीं है?

धर्म का जीवन में अवतरण उसी क्षण से होता है, जबसे व्यक्ति अपनी दौड़ के मूल कारण को देखना और पहचाना शुरू करता है। यह सत्य दिखाई पड जाना कि महत्वाकांक्षा का मूल आंतरिक अभाव से पलायन है, जीवन में एक नयी ही दिशा का उद्घाटन बन जाता है।

स्वयं की आंतरिक रिक्तता से भागना संसार है।

और स्वयं की आंतरिक रिक्तता और शून्य में जागना धर्म। भागना संसार है। जागना धर्म है।

और जो भागता है, वह पाता है कि शून्य बढ़ता ही जाता है।

और जो जागता है वह पाता है कि शून्य है ही नहीं। निद्रा में जो शून्य प्रतीत होता था, जागृति में वही पूर्ण हो जाता है।

मित्र, भागने से शून्य बढ़ता है क्योंकि हम स्वयं से जितने दूर होते हैं उतने ही रिक्त और शून्य हो जाते हैं। हमारी स्वयं की सत्ता से जो दूरी होती है, वही दूरी हमारी रिक्तता का अनुपात भी है।

यह स्मरण रहे कि मनुष्य में जितना बड़ा सिकन्दर छिपा होता है, उसके हाथ उतने ही खाली होते हैं!

और, स्वयं से भागने से शून्य इसलिये भी बढ़ता है कि भागने का मूल है भय। भागना भय की स्वीकृति है। पलायन भय को गले लगा लेना है। और जिसे हम स्वीकार करते हैं और जिसे हम गले लगा लेते हैं, वह बढ़ता ही जाता है। भय भागने से घटता नहीं, बढता है। और भय जितना बढता है, स्वयं का होना उतना ही घटता है। और ऐसे स्वयं की रिक्तता और भी बढ जाती और पीडादायी हो जाती है।

किन्तु जो स्वयं से भागता नहीं, वरन् स्वयं के प्रति जागता है, वह जीवन के एक बिल्कुल दूसरे ही अनुभव को उपलब्ध होता है। उसके हाथ खाली नहीं रह जाते हैं। उसके प्राण खाली नहीं रह जाते हैं। उसका समग्र जीवन ही एक अनूठी संपदा से भर जाता है।

क्योंकि जो स्वयं के प्रति जागता है, वह पाता है कि वहां तो कोई अभाव ही नहीं है। वहां तो स्वयं परमात्मा है।

अभाव स्वयं में नहीं, स्वयं के प्रति मूर्च्छा में है।

मैं सोया हूं : यही है अभाव। मैं जाग जाऊं तो अभाव वैसे ही नहीं पाया जाता है, जैसे कि सूर्य के निकलते ही अंधकार नहीं पाया जाता है।

क्या आपको ज्ञात है कि एक बार अंधकार ने सूर्य को पत्र लिखा था और शिकायत की थी कि आप अकारण ही मेरे पीछे क्यों पड़े हुये हैं?

सूर्य अंधकार के इस पत्र को पाकर बहुत ही हैरान हुआ था। और उसने खबर भिजवाई थी कि मित्र, मैं तो आपको जानता भी नहीं हूं। कभी आवें और मेरा आतिथ्य स्वीकार करें। अनजाने में कोई भूल मुझसे हो गई हो तो मैं प्रत्यक्ष सेवा से क्षमा मांगना चाहता हूं।

किन्तु, इस आमंत्रण को दिये गये अनगिनित सदियां बीत गई हैं और अंधकार आज तक भी सूर्य से मिलने नहीं आ सका है।

और अब तो सूर्य को संदेह भी होने लगा है कि अंधकार कहीं है भी या नहीं? वह पत्र जाली भी तो हो सकता था?

मैं जैसे जागता हूं, वैसे ही कोई अभाव नहीं है।

मैं जैसे ही सूर्य बनता हूँ, वैसे ही कोई अंधकार नहीं है।

और यह मैं जानकर कह रहा हूं। मैं यह सूर्य बनकर कह रहा हूं। मैं यह सब भांति भरा हुआ होकर कह रहा हूं। आओ, और मेरे हाथ देखो! क्या वे भरे हुये नहीं हैं?

और स्मरण रहे कि सूर्य आप भी हो, और हाथ आपके भी भरे हुये हैं।

लेकिन, आप आंखें बंद किये हो और सो रहे हो, और इस निद्रा के कारण भरे हुये हाथ दिखाई नहीं पड़ रहे हैं, और तब उन्हें भरने के लिये हजार हजार सपने देखे जा रहे हैं।

लेकिन, मित्र, क्या वे हाथ कभी भरे जा सकते हैं जो कि खाली ही नहीं हैं?

और क्या उस आंतरिक अभाव को भरा जा सकता है जो कि है ही नहीं?

इसलिये ही तो मनुष्य की सब दौड़ अनिवार्यतः असफल हो जाती है

और यह अनिवार्य असफलता ही तो मनुष्य का संताप है।

और फिर जो संताप में है, वह दूसरों को भी संताप देता है। जो दुख में है वह दुख बांटता है। मनुष्य जो है, उसे ही बांटने को आबद्ध है, और असमर्थ है। क्योंकि स्वयं को बांटे बिना जिया ही नहीं जा सकता है। फूल सुगन्ध बांटते हैं क्योंकि वे सुगन्ध हैं। तारों से प्रकाश बंटता है क्योंकि वे प्रकाश

हैं। मनुष्य दुख बांटता है क्योंकि वह दुख है । लेकिन मनुष्य आनन्द भी बांट सकता है, क्योंकि वह आनन्द भी हो सकता है।

धर्म आनन्द का द्वार है। क्योंकि धर्म स्वयं के प्रति जागरण है। जो स्वयं के प्रति जागता है, वह पाता है कि वहां अभाव नहीं है और यह साक्षात् आनन्द से भर देता है क्योंकि फिर कुछ पाने को नहीं रह जाता है। वह सब जो भी पाने जैसा है पाया जाता है कि पाया ही हुआ है।

अभाव स्वरूप नहीं है।

स्वरूप है आनन्द। और इसलिये स्वयं के प्रति सचेत होना ही आनंद को पा लेना है।

और आनन्द मिलते ही आनंद वितरित होने लगता है।

आनन्द की किरणों को बिखेरता चित्त ही धर्म प्रतिष्ठित चित्त है । और ऐसे चित्त के हाथों में विज्ञान की शक्ति स्वर्ण में सुगन्ध है।

विज्ञान और धर्म का ऐसा मिलन चिरप्रतीक्षित है।

मेरे मित्रों ! क्या आप वह सेतु बनोगे, जो कि इस सम्मिलन को ला सके ? मनुष्य को ही तो सेतु बनना है। प्रत्येक को ही तो सेतु बनना है । क्योंकि ऐसे सेतु से ही धरा पर चिरप्रतीक्षित स्वर्ण युग का अवतरण होगा जो कि अतीत में आकर चला नहीं गया है वरन् भविष्य में है और अभी आने को है।

फूल और फूल और फूल

(प्रवचनों से संकलित बोध कथा यें)

संकलन : श्री. अकलंक, बी. ई. आनर्स

१

मैं देखता हूं कि प्रभु का द्वार तो मनुष्य के अति निकट है लेकिन मनुष्य उससे बहुत दूर है। क्योंकि न तो वह उस द्वार की ओर देखता ही है और न ही उसे खटखटाता है।

और मैं देखता हूं कि आनन्द का खजाना तो मनुष्य के पैरों के ही नीचे है लेकिन न तो वह उसे खोजता है और न ही खोदता है।

एक रात सुलतान महंमूद घोड़े पर बैठकर अकेला सैर करने निकला था। राह में उसने देखा कि एक आदमी सिर झुकाये सोने के कणों के लिये मिट्टी छान रहा है। शायद उसकी यह खोज दिन भर से चल रही थी, क्योंकि उसके सामने छानी हुई मिट्टी का एक बड़ा ढेर लगा हुआ था। और शायद उसकी खोज निष्फल ही रही थी, क्योंकि यदि वह सफल हो गया होता तो आधी रात गये भी अपना कार्य जारी न रखता। सुलतान क्षण भर उसे अपने कार्य में डूबा देखता रहा, और फिर अपना अत्यंत बहुमूल्य बाजूबंद मिट्टी के ढेर पर फेंक कर वायुवेग से आगे बढ़ गया। अगली रात वह फिर उसी राह से निकला तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने देखा कि वह आदमी अब भी उसी तरह मिट्टी छानने में मशगूल है। उसने उस आदमी से कहा: "पागल, कल तुझे जो बाजूबंद मिला वह तो पूरी एक दुनियां खरीदने के लिये काफी है, फिर भी तू मिट्टी छानना बंद नहीं करता है?" वह आदमी उत्तर में हंसा और बोला : "आह।

इसीलिये तो अब जीवन भर खोज जारी रखनी पड़ेगी। कल ऐसी बढ़िया चीज मिली, इसीलिये तो अब अथक खोजना आवश्यक हो गया है।"

मैं कहता हूं कि जो इसी आदमी की भांति सतत् खोजना जारी रखता है, केवल वही और केवल वही परमात्मा के खजाने को उपलब्ध हो पाता है।

वह खजाना तो निकट है लेकिन मनुष्य खोदता ही नहीं है।

वह द्वार तो सामने है लेकिन मनुष्य खोजता ही नहीं है।

२

जीवन बहुत उलझा हुआ है लेकिन अक्सर जो उसे सुलझाने में लगते हैं वे उसे और भी उलझा लेते हैं।

जीवन निश्चय ही बड़ी समस्या है लेकिन उसके लिये प्रस्तावित समाधान उसे और भी बड़ी समस्या बना देते हैं।

क्यों? लेकिन ऐसा क्यों होता है?

एक विश्वविद्यालय में विधिशास्त्र के एक अध्यापक अपने जीवन भर वर्ष के पहले दिन की पढ़ाई तख्ते पर 'चार' और 'दो' के अंक लिखकर प्रारंभ करते थे। वे दोनों अंकों को लिखकर विद्यार्थियों से पूछते थे : "क्या हल है?"

निश्चय ही कोई विद्यार्थी शीघ्रता से कहता : "छ!"

और फिर कोई दूसरा कहता : "दो!"

लेकिन अध्यापक को चुप सिर हिलाते देखकर अंततः अंतिम संभावना को सोचकर अधिकतम विद्यार्थी चिल्लाते "आठ"। लेकिन अध्यापक तब भी अपना अस्वीकार सूचक सिर हिलाये ही जाते थे!

और तब सन्नाटा छा जाता था क्योंकि और कोई तो उत्तर हो ही नहीं सकता था।

फिर वे अध्यापक हंसते थे और कहते थे : "मित्रो, आप सभी ने अत्यंत आधारभूत प्रश्न ही नहीं पूछा, तो हल कैसे संभव हो सकता है? आपने यही नहीं जानना चाहा कि वस्तुतः समस्या क्या है? और जो समस्या सम्यक् रूप से जाने बिना ही समाधान खोजने में लग जाता है, निश्चय ही वह समाधान तो पाता ही नहीं है और उल्टे समस्या को और उलझा लेता है।"

क्या यह बात सत्य नहीं है कि समस्या को जाने बिना ही समाधान खोज और पकड़ लिये जाते हैं? जबकि समाधान नहीं, महत्वपूर्ण सदा समस्या ही है। क्योंकि, अंततः तो समस्या को उसकी समग्रता में जान लेना ही समाधान बनता है।

और गणित में ऐसी भूल हो तो हो, लेकिन क्या जीवन में भी ऐसा ही नहीं होता है ?

क्या वास्तविक समस्या को जाने बिना ही जब हम समाधान के लिये श्रम करने लगते हैं तो हमारा श्रम व्यर्थ ही नहीं, आत्मघाती भी सिद्ध नहीं होता है ?

मित्र, समस्या को ही जो सहीरूप में नहीं जानता है, वह यदि किसी अन्य ही प्रश्न को प्रश्न मानकर हल करता हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

क्या आपको उस जहाज के बाबत् भी पता नहीं है, जो कि डूब रहा था, और कुछ लोग उसे डूबने से बचाने के लिये उस पर पालिश कर रहे थे !

मैं तो सोचता हूं कि आपको उस जहाज के संबंध में जरूर ही पता होगा, क्योंकि मैं तो आपको भी उस पर ही सवार देखता हूं; और न केवल सवार ही देखता हूं बल्कि यह भी देखता हूं कि जहाज डूब रहा है और आप उसे बचाने के लिये उस पर पालिश करने में भी लगे हैं !

मित्र, वह जहाज जीवन का ही जहाज तो है।

३

एक वृद्ध मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं : 'नयी पीढी बिल्कुल बिगड़ गई है।' यह उनकी रोज की ही कथा है। एक दिन मैंने उनसे एक कहानी कही : "एक व्यक्ति के आपरेशन के बाद उसके शरीर में बंदर की ग्रंथियां लगादी गईं थीं। फिर उसका विवाह हुआ। और फिर कालांतर में पत्नी प्रसव के लिये अस्पताल गई। पति प्रसूतिकक्ष के बाहर उत्सुकता से चक्कर लगा रहा था। और जैसे ही नर्स बाहर आई, उसने उसके हाथ पकड़ लिये और कहा : "भगवान के लिये जल्दी बोलो। लड़का या लड़की ?" उस नर्स ने कहा : "इतने अधीर मत होइ ये। वह पंखे से नीचे उतर आये, तब तो बता ऊं ?" वह व्यक्ति बोला : "हे भगवान् क्या वह बंदर है ?" और फिर थोड़ी देर तक वह चुप रहा और पुनः बोला: "नयी पीढी का कोई भरोसा नहीं है। लेकिन वह तो हद हो गई कि आदमी से और बंदर पैदा हो ?" उसने यह सब तो कहा लेकिन एक भी बार यह नहीं सोचा कि यह नयी पीढी आकस्मिक नहीं है और बंदर की ग्रथियां स्वयं उसके शरीर में ही लगी हुई हैं, जिनका कि यह स्वाभाविक परिणाम है। लेकिन पुरानी पीढी नयी पीढी को दोष देती है और नयी पीढी फिर और नयी पीढी को दोष देती है, और ऐसे वे ग्रंथियां सुरक्षित रही आती हैं जो कि मनुष्य की सारी विकृतियों के मूल में हैं। और यह क्रम सदा से चलता चला आ रहा

है। पुरानी से पुरानी किताबें यही कहतीं हैं कि नयी पीढी बिल्कुल बिगड़ गई है। लेकिन जब तक यह बात कही जाती रहेगी तब तक नई पीढ़ियां बिगडती ही रहेंगी। हां, किसी दिन जब कोई पीढी इतनी समर्थ और साहसी और समझदार होगी कि कह सके कि: "हमारी पीढी ही रुग्ण और बीमार है" तो शायद स्वयं की उन ग्रंथियों को खोज सके जो कि दुर्भाग्य की काली छाया की भांति मनुष्य का पीछा कर रही हैं। और एक बार उन ग्रंथियों की खोज हो सके उनसे मुक्त होना कठिन नहीं है। वस्तुतः तो उन्हें जान लेना ही उनसे मुक्त हो जाना है।

४

प्रेम जिस द्वार के लिये कुंजी है, ज्ञान उसी द्वार के लिये ताला है।

और मैंने देखा है कि जीवन उनके पास होता है जो कि ज्ञान से भरे हैं लेकिन प्रेम से खाली हैं।

एक चरवाहे को जंगल में पड़ा एक हीरा मिल गया था। उसकी चमक से प्रभावित हो उसने उसे उठा लिया था और अपनी पगड़ी में खोंस लिया था। सूर्य की किरणों में चमकते उस बहुमूल्य हीरे को रास्ते से गुजरते एक जौहरी ने देखा तो वह हैरान हो गया। क्योंकि इतना बड़ा हीरा तो उसने अपने जीवन भर में नहीं देखा था। उस जौहरी ने चरवाहे से कहा: "क्या इस पत्थर को बेचोगे? मैं इसके दो पैसे दे सकता हूं"? वह चरवाहा बोला: "नहीं पैसों की बात न करें, यह पत्थर मुझे बड़ा प्यारा है। मैं इसे पैसों में नहीं बेच सकूंगा। लेकिन आपको पसंद आ गया हो तो इसे आप ले लें। लेकिन, एक वचन दे दें कि इसे सम्हालकर रखेंगे। यह पत्थर बड़ा प्यारा है!" जौहरी ने हीरा ले लिया और अपने घोड़े की रफ्तार तेज की कि कहीं उस चरवाहे का मन बदल न जाये और कहीं वह छोड़े गये दो पैसे न मांगने लगे! लेकिन जैसे ही उसने घोड़ा बढाया कि पाया कि हीरा रो रहा है! उसने हीरे से पूछा: "मित्र, रोते क्यों हो? मैं तो तुम्हारा पारखी हूं? वह मूर्ख चरवाहा तो तुम्हें जानता भी न था." लेकिन यह सुन कर वह हीरा और भी जोर से रोने लगा था और बोला—वह मेरे मूल्य को तो नही जानता था लेकिन मुझे जानता था। वह ज्ञानी तो नहीं था, लेकिन प्रेमी था। और प्रेम जो जानता है, वह ज्ञान कभी नहीं जान पाता है।

५

सत्य की खोज में सम्यक् निरीक्षण से महत्वपूर्ण और कुछ भी नहीं है। लेकिन, हम तो करीब करीब सोये सोये ही जीते हैं। इसलिये जागरूक निरीक्षण

का जन्म ही नहीं हो पाता है। जो जगत् हमारे बाहर हैं, उसके प्रति भी खुली हुई आंखें और निरीक्षण करता हुआ चित्त चाहिये और तभी उस जगत् के निरीक्षण और दर्शन में भी हम समर्थ हो सकते हैं जो कि हमारे भीतर है।

मैं आपको एक वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में ले चलता हूं। कुछ विद्यार्थी वहां इकठ्ठे हैं और एक वृद्ध वैज्ञानिक उन्हें कुछ समझा रहा है। वह कह रहा है: "सत्य के वैज्ञानिक अनुसंधान में दो बातें सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं...साहस और निरीक्षण। उन दो को सदा स्मरण रखें और प्रयोग के तौर पर देखें। मेरे हाथ में नमक के घोल से भरा हुआ एक गिलास है। मैं इसमें अपनी एक अंगुली डालकर फिर उसे अपनी जीभ से लगाऊंगा। और जैसा मैं करूंगा, वैसा ही आपमें से भी प्रत्येक को बाद में करना हैं।' उस वृद्ध ने घोल में अंगुली डाली और जीभ से लगाई। फिर प्रत्येक विद्यार्थी ने भी वैसा ही किया। वह वृद्ध तो घोल चखकर भी हंसता रहा लेकिन विद्यार्थियों को लगा कि जैसे उल्टी हो जावेगी लेकिन साहस करना जरूरी था और उन्होंने साहस किया और उस घोल में डुबाई हुई अंगुली को जीभ पर रखा। जब सारे विद्यार्थी ऐसा कर चुके तो वह वृद्ध वैज्ञानिक खूब हंसने लगा और बोला: "मेरे बेटों, जहां तक साहस की बात है, मैं तुम्हें पूरे अंक देता हूं, लेकिन निरीक्षण के विषय में तुम सब असफल रहे। क्योंकि तुमने नहीं देखा कि मैंने जो अंगुली घोल में डुबाई थी, वही जीभ से नहीं लगाई थी!

६

विचार से सत्य नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि, विचार की सीमा है और सत्य असीम है।

विचार से सत्य नहीं पाया जा सकता है। क्योंकि विचार ज्ञात है और सत्य अज्ञात है।

विचार से सत्य नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि, विचार शब्द है और सत्य शून्य है।

विचार से सत्य नहीं पाया जा सकता। क्योंकि, विचार एक क्षुद्र प्याली है और सत्य एक अनन्त सागर है।

संत आगस्टीनस एक सुबह सागर तट पर था। सूर्य निकल रहा था और वह अकेला ही घूमने निकल पड़ा था। अनेक रात्रियों के जागरण से उसकी आंखें थकी मांदीं थीं। सत्य की खोज में वह करीब करीब सब शांति खो चुका था। परमात्मा को पाने के विचार में ही दिवस और रात्रि कब बीत जाते थे, उसे

पता ही नहीं पड़ता था। शास्त्र और शास्त्र, शब्द और शब्द, विचार और विचार वह इनके ही बोझ के नीचे पूरी तरह दब गया था। लेकिन उस दिन सुबह वह कुछ बदल गया। उसका उस सुबह सागरतट पर घूमने आ जाना बड़ा सौभाग्य-पूर्ण सिद्ध हुआ। वह गया तो विचारों के बोझ से दबा था और लौटा तो एकदम निर्भार था। उसने सागर के किनारे एक छोटे से बच्चे को खड़े देखा जो कि अपने हाथ में एक छोटीसी प्याली लिये हुये था और अत्यंत चिन्ता और विचार में डूबा था। स्वभावतः उसने उस बच्चे से पूछा: "मेरे बेटे, तुम यहां क्या कर रहे हो और किस चिन्तामें डूबे हुये हो?" उस बच्चे ने आगस्टीनस की तरफ देखा और कहा: "चिन्तित तो आप भी हैं। कृपा करें और पहले आप ही अपनी चिन्ता का कारण बतावे? हो सकता है कि जो मेरी चिन्ता है, वही आपकी भी हो? लेकिन आपकी प्याली कहां है? "आगस्टीनस तो कुछ समझा नहीं और प्याली की बात से उसे हंसी भी आ गई। प्रगटतः उसने कहा,: "मैं सत्य की खोज में हूं। और उसी के कारण चिन्तित हूं।" वह बच्चा बोला: "मैं तो इस प्याली में सागर को भरकर घर ले जाना चाहता हूं। लेकिन सागर प्याली में आता ही नहीं है।" और उसे अपनी बुद्धि की प्याली भी दिखाई पड गई और उसे सत्य का सागर भी बिखाई पड गया और वह हंसने लगा और उस बच्चे से बोला: "मित्र, हम दोनों ही बच्चे हैं क्योंकि केवल बच्चे ही सागर को प्याली में भरना चाहते हैं।" आगस्टीनस तो लौट गया और भूल गया प्याला को और पा गया सागर को। लेकिन वह बच्चा अभी भी सागर किनारे अपनी प्याली लिये चिन्तित खड़ा हुआ है, उसे पता ही नहीं है कि हाथ की प्याली ही तो सागर से दूर है। और एक ही बच्चा वहां खड़ा हो तो कोई समझाये भी। पूरा सागर तट ही तो बच्चों से भरा है। और वे अपनी अपनी प्यालियां लिये हुये खड़े हैं और रो रहे हैं कि सागर उनकी प्यालियों में नहीं समाता है। और कभी कभी उस सागर तट पर इस बात पर भी संघर्ष हो जाता है कि किसकी प्याली बड़ी है और किसकी प्याली में सागर के समा जाने की सर्वाधिक संभावना है! अब कौन उन्हें समझाये कि प्याली जितनी बड़ी हो, सागर के उसमें समाने की संभावना उतनी ही कम हो जाती है, क्योंकि बड़ी प्याली का अहंकार उसे छूटने ही नहीं देता है और सागर तो उन्हें मिलता है जो कि प्याली को छोड़ने का साहस दिखा पाते हैं! हां, ऐसा भी कभी कभी होता है कि उन थोड़े से लोगों में से भी कोई वहां पहुंच जाता है जिसने कि अपनी प्याली छोड़कर सागर को भर लिया है लेकिन उस सागर तट के वासी ऐसे व्यक्तियों को बड़े संदेह की

दृष्टि से देखते हैं। यह बात उन्हें बिल्कुल ही असंभव मालूम होती है कि बिना प्याली के भी कभी कोई सागर को पा सकता है?

७

मैं जीवन में उन्हें हारते देखता हूं जो कि जीतना चाहते थे। क्या जीतने की आकांक्षा हारने का कारण नहीं बन जाती है?

आंधी आती है तो आकाश को छूते वृक्ष टूटकर सदा के लिये गिर जाते हैं और घास के छोटे छोटे पौधे आंधी के साथ डोलते रहते हैं और बच जाते हैं।

पर्वतों से जल की धारायें गिरती हैं....कोमल, अत्यंत कोमल, जल की धारायें और उनके मार्ग में खड़े होते हैं विशाल पत्थर....कठोर शिलाखंड। लेकिन, एक दिन पाया जाता है, जल तो अब भी बह रहा है लेकिन वे कठोर शिलाखंड टूट टूटकर रेत हो, न मालूम कहां खो गये हैं!

परमात्मा के मार्ग अनूठे हैं। और जीवन बहुत रहस्यमय है।

इसीलिये तो गणित के नियम जीवन के समाधान में बिल्कुल ही व्यर्थ हुये देखे जाते हैं।

कन्फ्यूसियश मरणशय्या पर थे। उन्होंने अपने शिष्यों को पास बुलाया और कहा: "मेरे बेटों, जरा मेरे मुंह में झांककर देखो तो कि जीभ है या नहीं?" निश्चय ही शिष्य हेरान हुये होंगे लेकिन उन्होंने देखा और कहा: "गुरु-देव, जीभ है!" कन्फ्यूसियशने पूछा: "और दांत?" उन्होंने कहा: "दांत तो एक भी नहीं है!" कन्फ्यूसियश ने पूछा: "कहां गये दांत?" जीभ का जन्म तो हुआ था पहले और दांतों का बाद में? फिर कहां गये दांत?" वे शिष्य अब क्या कहते? वे चुप एक दूसरे का मुंह देखने लगे तो कन्फ्यूशियस ने कहा: "सुनो, जीभ है कोमल, इससे अब तक मौजूद है। दांतां थे क्रूर, कठोर, इसीसे नष्ट हो गये हैं!"

कन्फ्यूशियस की यह अंतिम शिक्षा थी।

लेकिन, मैं इसे जीवन की पहली शिक्षा बनाना चाहता हूं।

बिन्दु बिन्दु विचार :

(चर्चाओं से संकलित:)

संकलन : श्री. निकलंक, एम. एस. सी.

१ : जीवन है अभी, और यहीं, और आज। कल तो है बहुत दूर, अनन्त दूरी पर है कल। इसीलिये तो वह कभी भी नहीं आ पाता है। क्या उचित न होगा कि हम आज ही जियें? वस्तुत: तो जो जीता है वह सदा आज ही जीता है। जीवन है आज और कल है मृत्यु। जीना है तो आज जियो। हां, सिर्फ मरना ही है तो कल भी काम दे सकता है!.

२ : निश्चय ही कठिन है स्वयं को जीतना। किन्तु स्वयं के अतिरिक्त और कुछ जीतना तो असंभव ही है। और यह भी स्मरण रहे कि जो स्वयं को जीत लेता है, वह अनायास ही शेष सबको भी जीत लेता है। इसलिये मैं कहता हूं कि जीवन में एक ही हार है और एक ही जीत है। हार भी स्वयं पर और स्वयं से है और जीत भी स्वयं पर और स्वयं से है।

३ : एक मित्र ने मुझसे कहा : "क्या अच्छा न होगा कि हम दुनिया को बदल डालें ?" मैंने कहा: "बहुत अच्छा होगा. लेकिन दुनिया है कहां?" मैं तो उसे बहुत खोजता हूं और पाता नहीं। खोजता हूं दुनिया को और पाता हूं स्वयं को। इसलिये मेरी प्रार्थना है की दुनिया को छोड़ो। मैं स्वयं को बदल डालूं और आप अपने को और दुनिया जरूर बदल जायेगी। क्योंकि, मेरे और आपके अंतर्संबंधों के अतिरिक्त वह और क्या है?"

४ : एक स्वप्न मैंने देखा है। शायद अंतिम निर्णय का दिन आ गया था। और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी कब्र से उठाकर उसके जीवन के संबंध में पूछा जा रहा था। परमात्मा स्वयं ही यह पूछताछ कर रहा था। मेरे पास में ही मेरे एक परिचित पंडित

खड़े थे। वे बहुत निश्चित थे क्योंकि उन्हें तो वेद, पुराण, आगम, निगम, सभी कंठस्थ थे। उन्हें आशा थी कि वे कैसी भी धर्म परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं। लेकिन जैसे जैसे परमात्मा निकट आ रहा था, उनकी शांति खंडित होती जा रही थी। अंततः वे बेचैन हो उठे और रोकर मुझसे बोले: "यह कैसा अंधेर हो रहा है? शास्त्रों के संबंध में तो कुछ पूछा ही नहीं जा रहा है। बस, जीवन के ही संबंध में सारी पूछताछ हो रही है और आप तो भली भांति जानते ही हैं कि मैं क्या उत्तर दूंगा? क्योंकि, मैंने तो शास्त्रों के अतिरिक्त और कुछ जाना ही नहीं हैं। मैंने तो सारा ही जीवन उन्हें ही जानने में गवां दिया है"।

५: क्या निश्चय ही हम उन सुखों से नहीं थक जाते हैं जो हम भोगते हैं? और जिस सुख से हम थक जाते हैं क्या वह दुःख नहीं हो जाता है? लेकिन, क्या कभी कोई मनुष्य उन सुखों से भी थकते देखा गया है जो वह दूसरों को देता है? नहीं। नहीं। आज तक तो ऐसा कभी नहीं हुआ है। और तब मैं आपको एक रहस्य की बात बताता हूं, जो सुख हम दूसरों को देते हैं और जिससे हम कभी थकते नहीं, वही सुख आनन्द बन जाता है और आनन्द का कोई अंत नहीं है। आनन्द अनंत है। आनन्द नित्य है। आनन्द अमृत है।

६: एक पुत्र ने अपने पिता से पूछा था: "मैं इतना बड़ा कब हो सकूंगा कि जो मैं चाहूं सदा उसे कर सकूं?"

पिता ने कहा: "मेरे प्यारे बेटे, मैं नहीं जानता हूं। वस्तुतः इतना बड़ा होते आज तक कोई भी नहीं देखा गया है।"

मैं भी वहां मौजूद था। मैंने कहा: "मैं एक रहस्य जानता हूं। इतना बड़ा होना तो संभव नहीं है कि तुम जो चाहो, उसे सदा ही कर सको। और वह इसलिये संभव नहीं है क्योंकि यह चाह ही वस्तुतः छोटे होने से पैदा होती है। लेकिन यह संभव है कि तुम जो करो उसे चाहो कर सको। और यही प्रौढ़ता है। यही बडा होना है।"

७: मनुष्य के जीवन में इतना दुःख क्यों है?

क्योंकि, उसके जीवन में स्वरों की तो भीड़ है लेकिन स्वरशून्य संगीत बिल्कुल नहीं है।

क्योंकि, उसके जीवन में विचारों का शोरगुल तो बहुत है। लेकिन निर्विकार का मौन बिल्कुल नहीं है।

क्योंकि, उसके जीवन में भावनाओं का क्षोभ तो बहुत है। लेकिन निर्भाव की समता बिल्कुल नहीं है।

क्योंकि, उसके जीवन में दिशाओं की दौड़ तो बहुत है। लेकिन अदिशा में ठहराव बिल्कुल नहीं है ।

क्योंकि, उसके जीवन में क्रियाओं का तो बाजार है लेकिन अक्रिया का एकान्त बिल्कुल नहीं है।

और अंततः क्योंकि, उसके जीवन में वह स्वयं तो अतिशय है, लेकिन परमात्मा बिल्कुल नहीं है ।

८: एक मित्र जीवन के इस तट से विदा हो गये हैं। और जल्दी ही। आयु उनकी छोटी ही थी, पर जीवन था बहुत शुभ, सुन्दर, शांत और संगीत-पूर्ण। किसी ने कहा: 'कैसी अशुभ बात है, इतनी कम उम्रमें मृत्यु?" मैंने कहा: "नहीं। ऐसा न कहें। हो सकता है लम्बी आयु शुभ न हो, लेकिन जो जीवन शुभ है, वह तो निश्चय ही गहरा भी है, लम्बा भी है और बड़ा भी है। हां, यह हो सकता है कि पल और घड़ियों में उसे मापना संभव न हो सके। लेकिन इससे तो सारी हमारे मापने की सीमा और असमर्थता के अतिरिक्त और कुछ भी सिद्ध नहीं होता है।"

९: एक कब्र के पत्थर पर लिखा हुआ है: "एक ऐसा व्यक्ति यहां सोता है जिसने कि उन महान कार्यों के, जिन्हें कि वह करने के सपने देखता था, और उन छोटे कामों के बीच में जिन्हें कि वह करने से घृणा करता था, कभी कुछ भी नहीं किया ।" यह लिखा तो है एक ही कब्र पर, पर लिखा जाना चाहिए अधिकांश कब्रों पर। क्या यही अधिक लोगों के जीवन की कुल जमा कथा नहीं है? और एक अत्यंत निजी बात भी मैं आपसे पूछना चाहता हूं: "क्या आप भी अपनी कब्र पर ऐसा ही पत्थर तो नहीं लगवाना चाहते हैं?"

१०: मैं एक ऐसे आदमी को जानता था जिसने अपने जीवन में कभी कोई भूल ही नहीं की थी। मैंने उससे पूछा कि इसका रहस्य क्या है?' वह अत्यंत गंभीरता से बोला.: "इस भय से कि कहीं कोई भूल न हो जावे मैंने कभी कुछ किया ही नहीं और ऐसे में किसी भी भांति की भूल करने से बच गया हूं।" यह सुन मैं जोर से हंसने लगा था तो उसने पूछा था: "आप क्यों हंसते हैं?" मैंने कहा था: "इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है कि भूल हो जाने के भय से कोई कुछ करे ही नहीं। भूल से भयभीत होना जीवित होने से ही भयभीत होना है। भूलें करने को तो सदा तैयार रहना चाहिये। इतना ही बहुत है कि एक ही भूल दुबारा न हो। जो पुरानी भूलें छोड़ता है और नयी करने से भयभीत नहीं होता, वही जीता है और वही सीखता है। और वही जीतता भी है.?"

११ : जीवन गहरे सागरों में ले जाता है, डुबाने को नहीं, वरन् पवित्र करने को। लेकिन जो डूबने की अपनी कल्पना से भयभीत हो उठते हैं, वे व्यर्थ ही डूब जाते हैं। जीवन सागर की गहराइयों में आजतक किसे डुबाया है? मैं तो केवल उन्हें ही डूबते देखता हूं जो कि भय के तट पर ही बैठे रह जाते हैं!

१२ : ज्ञानकहता है: मैं कहां हूं? मैं तो शून्य हूं। और इस शून्य में ही वह ब्रह्म हो जाता है।

अज्ञान कहता है: मैं हूं सब कुछ ?मैं ब्रह्म हूं। और इस ब्रह्म होने में ही वह शून्य रह जाता है।

ज्ञान जो पाता है, अज्ञान उसे पाने के भ्रम में होता है।

ज्ञान जो जानता है, अज्ञान उसे मान लेता है।

अज्ञान जिसकी घोषणा करता है वही वह नहीं होता है।

१३ : प्रेम से सृष्टि जन्मी है। प्रेम से ही वह पोषित है। प्रेम की ओर ही वह प्रगतिशील है। और अंततः प्रेम में ही वह प्रविष्ट हो जाती है। और तुम पूछते हो कि मैं प्रेम को परमात्मा क्यों कहता हूं? इसलिये ही कहता हूं। इसलिये ही कहता हूं।

१४ : जीवन में सबसे बड़ा गुण पूछते हो? तो वह है: साहस। क्योंकि, साहस के बिना स्वतंत्रता नहीं, स्वतंत्रता के बिना सत्य नहीं और सत्य के बिना सदाचार नहीं। वस्तुतः साहस जीवन के भवन के लिये वही करता है जो कि किसी भी भवन के लिये नींव के पत्थर करते हैं।

१५ : क्या तुमने अच्छे आदमियों को कभी मरते देखा है या कि बुरे आदमियों को कभी जीते ?अच्छे आदमी उसी भांति कभी नहीं मरते जिस भांति कि बुरे आदमी कभी नहीं जीते हैं।

१६ : मेरे मित्र, हो सकता है कि तुम गुलाब के फूल न बन सको, लेकिन इस कारण कांटे बन जाना तो आवश्यक नहीं है? और हो सकता है कि तुम आकाश के चमकते हुये सितारे न बन सकोगे लेकिन इस कारण क्या सितारों को ढंक लेनेवाली काली बदली बन जाना जरूरी है? और अंत में कहना चाहता हूं एक रहस्य की बात की जो कांटा नहीं बनता वह फूल बन जाता है और जो बादल नहीं बनता वह चमकता हुआ सितारा बन जाता है।

१७ : यह तो मेरे हाथ में नहीं है कि कैसे मरूं। यह चुनाव मेरे लिये नहीं है। लेकिन मैं कैसे जिऊं यह तो निश्चय ही मेरे निर्णय में है। और मृत्यु तो है जीवन की ही पूर्णता। इसलिये जीवन जीने की विधि चुनकर मैं मृत्यु

के ढंग को भी चुन लेता हूं। और इसलिये ही मृत्यु बन जाती है पूरे जीवन की सूचक। जीवन में जो बोया जाता है, मृत्यु में उसके ही फूल तो अपनी पूर्णता में खिल जाते हैं।

१८: एक मित्र बीमार थे। उनके लिये बगीचे से तोडकर बहुत से फूल लाया था। फूल देकर जब वापिस लौटता था तो मैंने पाया कि दिये गये फूलों की सुवास मेरे हाथों में भी ठहरी रह गई थी। फिर तो यह अनुभव बार बार आया। फिर तो यह अनुभव जीवन ही बन गया। जो हम देते हैं, उसकी सुगन्ध या दुर्गन्ध सदा ही पीछे हमारे साथ रह जाती है। इसीलिये ही तो जो सुगन्ध में जीना चाहते हैं, वे सदैव सुगन्ध ही देते हैं।

१९: एक स्वप्न में मैंने अपने कुछ मृत परिचितों को देखा, वे वे ही वस्त्र पहने हुये थे, जो कि मरते समय पहने थे और वे उन्हीं पक्षपातों और विचारों से घिरे थे, जो कि मरते समय उनके मन के वासी थे। जीवन में सब कुछ बदल गया था लेकिन वे जरा भी नहीं बदले थे। यह मैंने उनसे कहा भी। लेकिन वे सब हंसने लगे और बोले: "हम मृतक कभी नहीं बदलते हैं। हम अपने विश्वासों में सदा दृढ रहते हैं। मृत लोक में बदलाहट जैसी चीज होती ही नहीं है। हमारे सिद्धान्त सनातन हैं। परिवर्तन का रोग तो बस जीवन में ही होता है।" मैंने कहा: "लेकिन जीवन में भी कुछ लोग तो ऐसे हैं जो कि कभी बदलते ही नहीं हैं। उनके सिद्धांत भी सनातन हैं और वे भी परिवर्तन के प्रति आंखें बंद रखते हैं ताकि कहीं उन्हें बदलाहट की बीमारी न हो जाये। क्या ऐसे ही कुछ लोग यहां भी नहीं हैं जो कि बदलते हों?" उन सभी मृतकों ने एकसाथ कहा: 'नहीं। नहीं। नहीं। ऐसा यहां हो सकता है। क्योंकि यहां सभी मृत हैं और कोई भी यहां जीवित नहीं है। हां, जीवन में ऐसा हो सकता है क्योंकि वहां बहुत से लोग मरने के पहले ही मर जाते हैं।"

२०. जीवन को कल के केन्द्र पर निर्मित मत करना। क्योंकि जीवन तो है आज। आज में ही सारे कल छिपे हैं और जो आज को खो देता है वह उन्हें भी खो देता है। क्या आज के बीज में ही सारे कलों के सारे फूल नहीं सोये हुये हैं?

२१. क्या कहा कि जीवन दुख है? नहीं, मित्र, जीवन तो वही है जो हम उसे बना लेते हैं। जीवन तुम्हें आनन्द नहीं बनेगा जब तक कि तुम उसे आनन्द न बनालो। जीवन तो बस एक अवसर है। वह तो एक रिक्तता है। उसे तो हम अपने जीने से ही भरते और पूर्ण करते हैं। मनुष्य को जीवन मिला हुआ नहीं है। वह तो रोज रोज जीता है, और उसे निर्मित करता है। जीवन आत्म

सृजन है। और इसलिये मनुष्य किसी और के प्रति नहीं, बस स्वयं के प्रति ही उत्तरदायी है।

२२. मैंने तुम्हारी पूजा देखी और तुम्हारी प्रार्थनायें सुनीं। अब तुम कहते हो कि मैं कहूं। मैं क्या कहूं? बस इतना ही कहता हूं :" प्रार्थना में यही कहीं ज्यादा उचित है कि हृदय हो और शब्द न हो, बजाय इसके कि शब्द हो हृदय न हो। लेकिन होता इससे उल्टा ही है। और इसलिये ही तो प्रार्थनायें प्रेम नहीं बन पाती हैं और पूजायें निष्प्राण रह जाती हैं। फिर इन निष्प्राण पूजाओं से परमात्मा कैसे मिले? और इन प्रेमशून्य प्रार्थनाओं से उसके द्वार कैसे खुलें? परमात्मा पत्थर होता तो निष्प्राण प्रार्थनायें और पूजायें जरूर उस तक पहुंच जातीं लेकिन पत्थरों में भला परमात्मा हो, पर परमात्मा पत्थर नहीं है, इसलिये जो प्रेम और प्राण से उसके निकट पहुंचते हैं केवल वे ही उसके निकट पहुंच पाते हैं।

.२३. क्या तुम चाहते हो कि तुम्हारा जीवन नर्क हो जाये? तो एक बहुत आसान और अचूक उपाय में बताता हूं। यह विधि बिल्कुल रामबाण और हजारों लोगों की हजार हजार वर्षों से आजमाई हुई है। इसमें भूल या विपनता की कोई भी संभावना नहीं है। यह हमेशा शत प्रतिशत ठीक सिद्ध हुई है। यह विधि क्या है? यह है 'मैं' के केन्द्र पर जीवन को निर्मित करना। अहंकार दुख में जाने का एकदम सीधा और सरल उपाय है। जो इसे छोड़कर दुख में जाने का प्रयास करते हैं, वे सदैव ही असफल हो जाते हैं। इसके विना दुख में कोई जा ही नहीं सकता है। क्योंकि, यह स्वयं ही दुख है। इसके मार्गदर्शन के बिना कोई नर्क में भी नहीं जा सकता है। क्योंकि, यह स्वयं ही नर्क है।

२४. परमात्मा कहां है? कोई और चाहे कुछ भी कहे; मैं तो यही कहूंगा कि मनुष्य के विवेक के अतिरिक्त और किसी मंदिर में परमात्मा नहीं है। विवेक का उसका मंदिर है और प्रेम की उसकी प्रतिमा है।

२५. सत्य को पाना कठिन है, क्योंकि उसे खोजना और जीना होता है। लेकिन शास्त्र को मानना आसान है, क्योंकि उसे तो बस मानना ही होता है। पहले के लिये चाहिये आंखोंवाला विवेक। जबकि दूसरे के लिये अंधविश्वास ही पर्याप्त है। शास्त्र इसीलिये सत्य के साक्षात् में बाधा बन जाते हैं। क्योंकि, जहां अंध-विश्वास है, वहां विवेक का जन्म ही नहीं होता है। और यह भी स्मरण रहे कि विश्वास मात्र ही अंधे होते हैं। अन्धी आंखें सत्य को कैसे जान सकती हैं? अंधी आंखें यानी चेतना के बंद द्वार। और सत्य तो केवल उसी द्वार पर

आता है जहां कि निष्पक्ष चित्त उसका स्वागत करने को तैयार होता है। क्या निष्पक्ष होने की तुम्हारी तैयारी है? क्या विश्वासों से मुक्त होने का तुम्हारा साहस है? क्या सत्य के स्वागत के लिये तुम्हारे हृदय के द्वार खुले हैं? यदि हां.. तो मैं कहता हूं कि फिर सत्य को पाने से सरल और कोई बात नहीं है। क्योंकि वस्तुतः कठिनाई तो सदा है हमारे चित्त में। सत्य तो सरल है लेकिन हम सरल नहीं हैं। हमारे विश्वासों और हमारी मान्यताओं और हमारी धारणाओं ने सब जटिल कर दिया है। जो इस जटिलता के जाल को तोड देता है, वह पाता है कि सत्य तो सामने ही खड़ा है। वह तो सदा से ही सामने था। बस, हमारी आंखें ही उसे देखने को स्वतंत्र नहीं थीं।

२६. धर्म के लिये मरना बहुत आसान है। लेकिन जीना बहुत कठिन। असल में मरना किसी भी बात के लिये सदा ही आसान होता है। मरने के लिये चाहिये बस एक भांति की विक्षिप्तता। और फिर मरना एक क्षण में ही हो जाता है। इस एकक्षण का उन्माद ही उसके लिये काफी है। किन्तु, जीने के लिये चाहिये जागृति। सतत जागृति। इसलिये मैं कहता हूं कि जो धर्म के लिये मरते हैं, वे नहीं, वरन् जो उसके लिये जीते हैं, वे ही केवल धर्म को जान पाते हैं।

२७. धर्म क्या है? यह जानना चाहते हो तो सबसे पहले धर्मों को भूलना होगा। धर्मों को छोड़े बिना धर्म को कभी भी नहीं जाना जा सकता है।

२८. सत्य यदि जीने योग्य प्रतीत न हो तो उसे मानने योग्य मानना भी उचित नहीं है।

२९. हम स्वयं ही स्वयं को जितना धोखा देते हैं, उतना और कौन हमें दे सकता है? इस भांति स्वयं के ही हम शत्रु हैं। लेकिन, इससे ही ज्ञात होता है कि हम चाहें तो स्वयं के ही मित्र भी हो सकते हैं। और जीवन में धर्म का प्रारंभ वहीं से है, जहां से स्वयं से मित्रता की शुरूआत है।

३०. विश्वास और अविश्वास दोनों ही बंधु हैं। उन दोनों में कोई भी भेद नहीं। उनके शरीर ही भिन्न हैं, आत्मा नहीं। इसलिये जिसे सत्य को खोजना है, उसे उन दोनों से समानतः सावधान होना आवश्यक है। एक कुआ है तो दूसरा खाई। गिरने के लिये तो दोनों ठीक हैं, लेकिन जिसे चलना है, उसके लिये मार्ग मध्य में है। क्योंकि चित्त दोनों से मुक्त होकर ही मुक्त होता है। जो न आस्तिक है, न नास्तिक, न विश्वासी, न अविश्वासी, वही और केवल वही सत्य की यात्रा पर निकल सकता है।

३१. आप किसलिये जीते हैं? यदि यह मुझे बतादें तो मैं जान जाऊंगा कि आप

क्या हैं ? आप किस ओर जा रहे हैं, उसमें ही तो आपका होना भी निहित है। जीवन है स्वयं का सतत् सृजन। अपने जीवन को बनानेवाले भी हम हैं और बननेवाले भी हम ही हैं। यहां मूर्ति बनानेवाला मूर्तिकार, मूर्ति बननेवाला पत्थर, और मूर्ति को बनानेवाला औजार सभी हमीं हैं। इसीलिये तो जीवन से बड़ी और जटिल और कोई कला नहीं है। और इस श्रम और साधना से बचने के लिये ही कुछ लोग तो जीवन से ही वंचित रह जाते हैं। उनका जीवन उन पत्थरों की भांति हो जाता है जो कि परिस्थितियों के प्रवाह और धक्कों में बस कोई भी आकर ग्रहण कर लेते हैं। उनका जीवन फिर सचेतन मूर्तियां नहीं बन पाता है और यही है जीवन का दुख, यही है पीड़ा, यही है संताप। मैं तो कहता हूं कि यही जीते जी मृत्यु है।

३२. एक मित्र हैं। वर्षों से उन्हें जानता हूं। पहले धन की दौड़ में थे, अब धर्म की दौड़ में हैं। दौड़ वही है, दृष्टि वही है, लेकिन पहले वे अपने को गृहस्थ मानते थे, अब सन्यस्त मानते हैं। मैं सुनता हूं तो आश्चर्य होता है : क्या ईश्वर को पाने की आकांक्षा भी बहुत गहरे में ऐश्वर्य को ही पाने की आकांक्षा नहीं है ? लोभ के मार्ग बहुत सूक्ष्म हैं और ईश्वर को पाने की कामना और कल्पना भी क्या लोभ की ही चरम परिणति नहीं है ? मनुष्य का लोभ असीम है। वह मोक्ष भी पाना चाहता है। जबकि सत्य यह है कि जब तक चित्त कुछ भी पाना चाहता है तब तक वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि पाने की चाह ही तो मौलिक अमुक्ति है। और जो मुक्त नहीं है, वह परमात्मा को कैसे जानेगा ? चित्त की परम मुक्ति में जो जाना जाता है वही तो परमात्मा है।

३३. मैं जानता हूं कि तुम आनन्द की खोज में हो लेकिन आनन्द क्या कभी खोजने से मिलता है ? आनन्द तो मिलता है उन्हें जो आनन्द बांटते हैं... आनन्द देते हैं। आनन्द चाहते हो तो आनन्द बांटो... आनन्द दो। चाहो मत। दो। क्योंकि देने में ही वह आता है। बांटने में ही वह मिलता है। लुटाने में ही वह स्वयं पर बरसता है। परमात्मा के रास्ते बड़े अनूठे हैं। आनन्द के द्वार एक भिखारी की भांति नहीं, वरन् एक सम्राट की भांति जाओ। क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि भिखारियों के लिये तो खुले द्वार भी बंद हो जाते हैं ? और भिखारी कौन है ? वह जो मांगता है, भिखारी है। और सम्राट कौन है ? वह जो देता है, सम्राट है। इसलिये मैं कहता हूं : दो.. दो.. दो। अशेष भाव से दो। और तुम पाओगे कि जो तुमने दिया है, वह अनन्तगुना होकर वापस

लौट आया है। मित्र, सब कुछ वापस लौट आता है। तुम्हारी सारी संपदा तुम्हारे दान की ही प्रतिध्वनि है। क्या तुम्हें स्मरण है कि कभी तुमने कोई ऐसी चीज भी पाई हो जो कि पाने के पहले तुमने दी नहीं थी ?

३४. मनुष्य केवल रोटी के बल नहीं जी सकता है। क्राइस्ट ने ठीक ही कहा है कि केवल रोटी पर्याप्त नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह बिना रोटी के जी सकता है। रोटी के बिना तो नहीं जी सकता, लेकिन अकेली रोटी से भी नहीं जी सकता है। रोटी के बिना जीना असंभव है और अकेली रोटी पर या रोटी के लिये ही जीना व्यर्थ है। जैसे पौधों की जडें होती हैं, ऐसे ही मनुष्य के लिये रोटी है। जड़ें अपने आपके लिये नहीं हैं। फूलों और फलों के लिये ही वे हैं। फूल और फल न आवें तो उनका होना निरर्थक है। यद्यपि फूल और फल उसके बिना नहीं आ सकते हैं तबभी फूल और फल उनके लिये नहीं हैं। जीवन में निम्न आवश्यक है उच्च के लिये, लेकिन उच्च के होने में ही वह सार्थक है। मनुष्य को रोटी की जरूरत है ताकि वह जी सके और जीवन के सत्य और सौंदर्य की भूख को भी तृप्त कर सके। रोटी रोटी से भी बड़ी भूखों के लिये आवश्यक है। लेकिन यदि कोई बड़ी भूख नहीं है तो रोटी व्यर्थ हो जाती है। रोटी रोटी के ही लिये नहीं है। अपने आपमें उसका कोई भी मूल्य और अर्थ नहीं है। उसका अर्थ है उसके अतिक्रमण में। कोई जीवन मूल्य जो कि उसके पार निकल जाता है, उसमें ही उसका अर्थ है।

३५. एक वृद्ध साधु से किसी ने पूछा था : "क्या ऐसा भी कोई उपदेश है, जिसे कभी भी किसी ने न दिया हो ? किसी सद्‌गुरू ने कभी न दी हो क्या ऐसी भी कोई शिक्षा है ?"

उस साधु ने कहा : "है। निश्चय ही है। ऐसी शिक्षा है जो कि कभी भी नहीं दी गई है और ऐसे उपदेश हैं जो कि कभी भी उच्चरित नहीं हुये हैं।" वह व्यक्ति पूछने लगा : "क्या आप मुझे बता सकते हैं कि वह क्या है ?" उस साधु के लिये सिवाय् हंसने के और क्या शेष था ? फिर भी उसने कहा :"वह कोई वस्तु नहीं है। वह कोई विचार भी नहीं है।"

सत्य का शब्द से उपदेश नहीं हो सकता है और जिसका शब्द से उपदेश हो सके जानना कि वह सत्य नहीं है।

सत्य को जाना तो जा सकता है, लेकिन अभिव्यक्ति ? नहीं, अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। क्योंकि, उसे जानने को होना पड़ता है निशब्द, और मौन और शून्य। और जिसे शून्य में जाना हो उसे शब्द में कैसे कहा जा सकता है ?

अमृत मंथन

(बम्बई में संगोष्ठी)

संकलन : सुश्री रमा

मैं कहता हूं: प्रेम को विकसित करें। स्वयं पर, अन्य पर और परमात्मा पर। क्यों? क्योंकि मैं प्रेम को ही प्रार्थना मानता हूं और साथ ही मैंने यह भी कहा कि शून्य हो जायें क्योंकि शून्य हुये बिना कोई प्रेम से पूर्ण नहीं हो सकता है। तो प्रश्न पूछा है कि एक ओर मैं कहता हूं कि प्रेम करें और दूसरी ओर कहता हूं कि शून्य हो जायें। इन दोनों में सम्बन्ध क्या होगा? क्या ये दोनों दिशायें विरोधी नहीं हैं?

निश्चित ही प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है और किसी को भी दिखायी पड़ेगा कि प्रेम करने में और शून्य होने में विरोध है। लेकिन मैं आपको कहूंगा कि जो प्रेम करता है वही केवल शून्य हो सकता है और जो शून्य हो जाता है वही केवल पूर्ण प्रेम को करने में समर्थ हो पाता है। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि प्रेम मनुष्य का स्वभाव है और शून्य भी मनुष्य का स्वभाव है। जब हम शून्य हो जाते हैं तब आत्मा का दर्शन होता है। और जब अपनी आत्मा का दर्शन होता है तो चारों ओर अपनी ही आत्मा का सबमें दर्शन होने लगता है—वही है प्रेम और यदि हम सबके भीतर प्रेम को फैला दें तो भी उसका दर्शन प्रारम्भ हो जाता है जो सबके भीतर बैठा हुआ है। सत्य को जानने के दो रास्ते हैं। शून्य का मार्ग और प्रेम का मार्ग। लेकिन शायद उन्हें दो कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मार्ग तो एक ही है। हां उसे दो प्रकार से देखा जरूर जा सकता है।

शून्य हो जावें तो भी सत्य जान लिया जाता है। क्योंकि शून्य हो जाने पर, सब चुप हो जाने पर, मौन हो जाने पर भीतर जो है उसकीअनुभूति हो जाती है। लेकिन इस भांति जो शून्य होगा शून्य के बाद पायेगा, उसके जीवन में प्रेम के अनन्त झरने फूट रहे हैं। शून्य प्रेम पर ले आता है। शून्य अंततः प्रेम बन जाता है। या समग्ररूपेण प्रेम से भर जायें, इतने प्रेम से भर जायें कि आपको स्मरण ही न रहे कि आप भी हैं। क्योंकि जब हम प्रेममय होते हैं तो स्वयं का बोध विलीन हो जाता है। और यदि स्वयं का बोध बना रहे तो आप प्रेममय नहीं हैं। जब स्वयं का बोध विलीन हो जाता है और जब आप इतने प्रेम से भर जाते हैं कि आपको ख्याल भी नहीं होता है कि मैं हूं तो आप पुनः शून्य हो जाते हैं। प्रेम के विस्तार से व्यक्ति शून्य हो जाता है। प्रेम की गहराई 'व्यक्ति को मिटा ही देती है। प्रेम अहंकार की मृत्यु है। ऐसे प्रेमही शून्य पर ले जाता है। शून्य और प्रेम एक ही सत्य के दो नाम मात्र हैं। शून्य प्रेम है। प्रेम शून्य है। शून्य है स्वयं का मिटना। प्रेम है परमात्मा का होना। परमात्मा तो निरंतर है। लेकिन, उसका होना स्वयं के होने से दबा है। स्वयं के जाते ही वह प्रगट हो जाता है। उसके आगमन के लिए स्वयं को विदा लेनी है। इस विदा को ही मैं शून्य होना कहता हूँ। और यह शून्य प्रेम में ही पूर्ण हो सकता है।

तो प्रेम को और शून्य को अलग न समझें। एक बर्तन आधा भरा हो तो उसे चाहें तो आधा भरा कहें चाहे तो आधाखाली। दोनों विरोधी सी दीखती बातें एक ही सत्य को कहती हैं। हां, निश्चय ही वे एक ही बात को उसके दो छोरों से देखती हैं। अपने से शुरू करें तो शून्य से करना होगा और अन्यों से शुरू करें तो प्रेम से करना होगा। स्वयं में शून्य होना ही सर्व के प्रति प्रेम से भरना है। अप्रेम अहंकार के अतिरिक्त और क्या है? मैं जहां अतिशय हूँ वही तो अप्रेम है। मैं की यह अतिशयता चेतना को अंधा कर देती है। इस अंधेपन में सत्य नहीं जाना जा सकता है। मैं की यह अतिशयता सर्व से विच्छिन्न भी कर देती है। वह सत्ता और स्वयं के बीच दीवार बन जाती है। इस दीवार को तोड़े बिना सत्य का साक्षात् असंभव है। शून्य होकर—अहंकार शून्य होकर आंखें खुलती हैं। और प्रेम में——प्रेम से पूर्ण होकर स्वयं के और सत्ता के बीच खड़ी दीवार गिरती है। अहंकार खंड को जान सकता है। यदि हम उसे जानना कहें, क्योंकि वह स्वयं ही खंड है। अंश अंश को ही तो जान सकता है। पूर्ण को जानने के लिए पूर्ण होना होगा। अखंड को

जाना अखंड होकर ही हो सकता है। शून्य में यह अखंडता मिलती है। प्रेम में यह पूर्णता मिलती है। विचार पूर्ण को जानने में असमर्थ है। क्योंकि वह अहंकार की ही उत्पत्ति है। इसलिए ही बुद्धि पदार्थ के पार नहीं देख पाती है। इसलिए ही विज्ञान पदार्थ पर ही अटक गया है। पूर्ण को——और पूर्ण ही सत्य है——प्रेम से ही जाना जा सकता है। प्रेम ही उसका द्वार है। बुद्धि दूर से——बाहर से जानती है। इसलिए ही उसका जानना आवरण से गहरा नहीं जा पाता है। प्रेम भीतर प्रवेश कर जाता है क्योंकि वह जिसे जानता है उसके साथ एक ही हो जाता है। इसलिए ही वैज्ञानिक, विचारक और तार्किक की बजाय कवि, कलाकार और प्रेमी कहीं मनुष्य की आत्मा को ज्यादा जान लेते हैं। बुद्धि और विचार पदार्थ को ही टटोल पाते हैं। प्रेम से वह भी पकड़ में आ जाता है जो कि पदार्थ नहीं है। प्रेम को जितना विकसित करेंगे उतना ही यह जगत चैतन्य से, चिन्मय परमात्मा से भरा हुआ प्रतीत होने लगेगा। एक पत्थर को भी प्रेम करें। एक पौधे को भी प्रेम करें तो धीरे धीरे पायेगें कि प्रेम आपकी आंखें खोल रहा है और उस पौधे में या पत्थर में भी अब केवल पत्थर या पौधा ही दिखायी नही पड़ता। वहां भी प्राणों के दर्शन होने शुरू हो गये हैं।

असीसी में एक फकीर हुआ फ्रांसिस। वह जंगल में जाता तो पौधों से गले मिलता और पक्षियों से बात करता। और पक्षियों से चर्चा करता और उन्हें प्रेम के संदेश भेजता। धीरे धीरे पक्षी उसकी बातें सुनने लगे। और वह जहां भी जाता पक्षी अचानक उसके पास इकट्ठे हो जाते। उससे चकित लोग पूछते: तुम पक्षियों से किस भाषा में बोलते हो? तो फ्रांसिस कहता: "प्रेम की भाषा में।" निश्चय ही दुनियां में और सब भाषाएं तो अलग अलग हैं, प्रेम की भाषा एक ही है। प्रेम की भाषा अकेली भाषा है जिसे सब समझते हैं। सारे मनुष्य प्रेम की भाषा को समझते हैं और जो जानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि मनुष्य के अतिरिक्त भी जो प्राणी हैं वे भी प्रेम की भाषा को समझते हैं और जो और गहरा जानते हैं वे जानते हैं कि पदार्थ के भीतर जो परमात्मा व्याप्त है वह भी प्रेम की भाषा को समझता है। तो स्मरण रखे, और सब भाषाएं मनुष्य की हैं, प्रेम परमात्मा की भाषा है, क्योंकि उसे सब समझते हैं, सब जानते हैं। जब तक आप दूसरी भाषाओं में ही बोलते रहेंगे तब तक आप मनुष्य के घेरे के ऊपर नहीं उठ सकते हैं। और जब आप प्रेम की भाषा में बोलते लगेंगे तो आप पायेंगे कि आपने परमात्मा में प्रवेश कर लिया है, क्योंकि आप एक नयी भाषा सीख रहे हैं जो केवल परमात्मा की है। और कभी क्या यह ख्याल

किया है कि जब आप किसी के प्रति प्रेम से भर जाते हैं तो जो भाषा आप बोलते हैं वह एकदम बन्द हो जाती है? प्रेम में शब्द खो जाते हैं और शून्य ही शेष रह जाता है। प्रेम को आजतक कौन शब्दों में कह पाया है। वह तो मौन में ही प्रगट होता है। मित्र, वह तो बस मौन में ही बोलता है। मैं तो रोज ही इस सत्य के दर्शन करता हूँ। अनेकों लोग मेरे पास आते हैं और जब उनका हृदय प्रेम से भर जाता है, तो उनकी आंखों से आनन्द के आंसू बहने लगते हैं और वाणी खो जाती है। मैं बहुत हैरान होता हूं कि जब प्रेम भरता है तो भाषा बन्द क्यों हो जाती है? असल में प्रेम परमात्मा की भाषा है। और परमात्मा और मनुष्य दोनों की भाषायें एक साथ कैसे चल सकती हैं? इसलिए जब प्रेम जागता और बोलता है तो हमारी वाणी खो जाती है। प्रेम मौन हो जाता है और कुछ नहीं बोल पाता है। प्रेम इसलिए नहीं बोल पाता है कि प्रेम तो खुद ही अपनी भाषा है, उसे खुद ही बोलना है, उसे और किसी भाषा की कोई जरुरत नहीं है। इस प्रेम को फैलाने के लिए इसलिए कहा कि वह अकेली भाषा है जो सारे जगत से आपको जोड़ देती है और शून्य के लिए इसलिए कहा कि जितना आप शून्य होंगे उतना ही प्रेम जन्मेगा और आपका जीवन बनेगा। लेकिन शून्य किससे होता है? मूलतः स्वयं से। और गौणतः विचारों, शब्दों और शास्त्रों से। मैं कहता हूं अहंकार से शून्य हो जायें। विचार से शून्य हों जाय। शब्द से शून्य हो जाये। अर्थ हुआ मनुष्य की भाषाओं से शून्य हो जायें। विचार और शब्द और शास्त्र ये मनुष्य की भाषाएं हैं। इनसे शून्य हो जायें। जब मनुष्य की सारी भाषाओं से शून्य हो जायेंगे तो फिर कौन सी भाषा शेष रह जायेगी? वही भाषा, जो मनुष्य की बनाई हुई नहीं हैं, जो कि परमात्मा की है।

प्रेम ही एकमात्र मिलन है। और मिल केवल वही सकता है जो शून्य हो। क्योंकि शून्य की कोई सीमा नहीं है। जहां सीमायें हैं, वहां मिलन कैसे होगा? जहां सीमायें नहीं हैं, वहीं सम्मिलन है। और सर्व–सत्ता से, वह जो है, उससे सम्मिलन को ही मैं समाधि कहता हूं। समाधि आंख है और उस आंख का जो दर्शन है वही सत्य है।

यह भी पूछा है कि मैं कहता हूं प्रेम करें। लेकिन बीतराग पुरुष तो किसी से प्रेम नहीं करते हैं?

इससे ज्यादा झूठी और कोई बात नहीं हो सकती। वीतराग पुरुष ही केवल प्रेम करते हैं। बाकी लोग कोई प्रेम नहीं करते। आप इस भूल

में न रहें कि आप प्रेम करते हैं। प्रेम करना आसान नहीं है। प्रेम से बड़ी और कोई ऊंचाई नहीं है। और जिन अंधेरी अहंकार घाटियों में हम पड़े हुए हैं वहां प्रेम का प्रकाश कभी भी नहीं पहुंचता है। वहां प्रेम की कोई किरण नहीं पहुंचती है। प्रेम के दर्शन के लिए स्वयं को अहंकार शून्यता के शिखरों पर ले जाना आवश्यक है। अहंकार मुक्त हुए बिना प्रेम को न किसी ने कभी जाना है, न कभी कोई जान सकता है। प्रेम के जन्म की वह तो अनिवार्य शर्त है। और जिसे हम प्रेम कहते हैं वह प्रेम जरा भी नहीं है, धोखा है। क्यों? जब तक राग है तब तक प्रेम नहीं हो सकता। साधारणतया लोग समझते हैं राग और प्रेम एक ही है। राग और प्रेम विपरीत हैं। जहां राग है वहां प्रेम नहीं हो सकता। क्योंकि राग का अर्थ ही है कि मैं कुछ मांगता हूं और कुछ पाना चाहता हूं। दूसरे से कुछ पाना चाहता हूं। और जहां पाने की कुछ इच्छा है, जहां दूसरे से कुछ पाने की इच्छा है वहां प्रेम कैसे होगा? प्रेम तो केवल देना जानता है, मांगना नहीं। प्रेम तो सहज दान है, मांग नहीं। जहां मांग है वहां प्रेम नहीं हो सकता। जहां मांग बीच में आ जाती है वहां प्रेम विलीन हो जाता है। आप अपने प्रेम को पहचान लें। ख्याल करें वहां सिवाय मांग के और कुछ नहीं होगा। जहां मांग आ जाती है वहां प्रेम भी बन्द हो जाता है। और जहां मांग आ जाती है वहाँ प्रार्थना भी बन्द हो जाती है। क्योंकि प्रार्थना भी प्रेम है। जब आप मंदिर में खड़े होकर भगवान से कुछ मांगते हैं समझ लें आपको भगवान से कोई प्रेम नहीं है। जो आप मांग रहे हैं उससे आपको प्रेम होगा। भगवान से कैसे प्रेम होगा? अगर धन मांग रहे हैं तो धन से प्रेम है। और भगवान से इसलिए मांग रहे हैं कि शायद वह दे सके। अगर भगवान नहीं देगा तो वहां मांगेगें जहां धन मिलता है। भगवान को छोड़ देंगे। अगर पुत्र मांग रहे है, तो पुत्र से प्रेम है। भगवान से कहां प्रेम है? जो हम मांगते हैं वह बता देता है कि प्रेम कहां है। जो आपकी मांग है वह आपका हृदय है। आप सोचें मानवीय सम्बन्धों में। जब आप किसी से कुछ मांग रहे हैं तो आपका प्रेम उससे नही है। अगर आप किसी तरह की कामुक तृप्ति चाहते हैं, किसी तरह की वासना की तृप्ति चाहते हैं तो आपका प्रेम वासना से होगा। सेक्स से होगा। उससे कैसे होगा, जिससे आप मांग रहे हैं। वह तो गौण है और साधन मात्र है। जिससे आप प्रेम कहते हैं उसमें आप दूसरे मनुष्य को साधन बना रहे है। अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए यह एक शोषण है, प्रेम नहीं। इसलिए मेरा मानना है, जो प्रेम से भर जायगा

वह मांग से, शोषण से, अपेक्षा से, राग से---सबसे तत्क्षण मुक्त हो जायेगा। प्रेम सभी बंधनों से मुक्त करता है। उससे बड़ी कोई स्वतंत्रता नहीं है। राग बंधन है, प्रेम मुक्ति है।

प्रेम की परिपूर्णता ही ब्रह्चर्य है। लेकिन ऐसे पागल लोग हैं जो समझते हैं कि प्रेम को हटा लो तो काम से, सेक्स से, मुक्त हो जाओगे। जो लोग प्रेम को हटा लेते हैं वे काम से, सेक्स से ही भर जाते हैं। उनके पास बस वही रह जाता है। उनका चिन्तन सिवाय उसके और कही नही जाता। और उनकी काम-शक्ति के सभी सृजनात्मक द्वार बन्द हो जाते हैं। ऐसे जो कुंठा और दमन पैदा होता है वह जीवन को नर्क ही बना देता है। काम-शक्ति प्रेम के अतिरिक्त और किसी आयाम से रूपांतरित नहीं होती है। और जो प्रेम के द्वार बंद कर देते हैं, वे अपने ही हाथों उस दिव्य रूपांतरण को अवद्ध कर देते हैं। फिर उनका चित्त अत्यंत रुग्ण कामुकता में ग्रसित हो जाता है। उनके जीवन में काम एक घाव बन जाता है और उसका घातक विष चित की अचेतन पर्तों तक फैल जाता है। उनके स्वप्न कामुक हो उठते हैं। और ऐसे व्यक्ति दिन में--- जिस दिशा से स्वयं को बचाते हैं, रात्रि उसी दिशा में स्वयं को गतिमान पाते हैं। ब्रह्मचर्य तो दूर उनका चित्त अत्यंत रुग्ण कामुकता का आवास बन जाता है। और स्मरण रहे कि काम (सैक्स) तो एक स्वस्थ जैविक तथ्य है लेकिन कामुकता (सेक्ससुआलिटी) एक महारोग है। तथाकथित प्रेम विरोधी ब्रह्मचर्य इसी महारोग में ले जाता है।

प्रेम के अतिरिक्त काम की ऊर्जा को यदि उसके जैविक रूप से स्थानांतरित किया जाय तो वह विध्वंसात्मक हो उठती है। और दमन की सभी विधियां यही करती हैं। काम शक्ति का दमन नहीं वरन् प्रेम की ओर उध्वर्गमन ही उसे केवल आत्म सृजन की शक्ति बनाने में समर्थ है, दमन से कोई काम से नहीं बचता है क्योंकि जिसे दवाया है, उसे रोज ही, सतत दबाये रखना होता है। और इस अन्तर्द्वन्द में ही जीवन व्यर्थ व्यय हो जाता है। ऐसे अन्तर्द्वन्द को पाल लेने से बड़ी और कोई मूढता नहीं है। क्योंकि तब वे ही शक्तियाँ जो परमात्मा के लिए सीढियां बन सकती थी, पशु से भी नीचे ले जाने वाली हो जाती हैं। मैं आपको कहता हूं कि प्रेम जितना प्रगाढ़ होगा काम उतना ही रूपांतरित हो जाता है और प्रेम जितना प्रगाढ होता है, राग उतना ही विलीन होता जाता है। फिर प्रेम कुछ भी नहीं मांगता है। फिर तो वह देता है। फिर तो वह बेशर्त दान बन जाता है। और यह देना भी अस्मिता के केन्द्र से नहीं

होता है, क्योंकि अस्मिता कभी भी बेशर्त नहीं दे सकती है। अहंकार जब भी देता है, पाने के लिए ही देता है। वह त्याग भी करता है, तो पाने के लिए करता है। इसलिए अहंकार का दान न दान है, न उसका त्याग, त्याग है। अहंकार से मुक्त होकर ही जो दान है, वह दान है, जो त्याग है, वह त्याग है। अहंकार –शून्य इस आत्मस्थिति को ही मैं प्रेम कहता हूं। मैंने सुना है कि एक फकीर एक बादशाह से मिलने गया। उसके गांव के लोगों ने उस फकीर से कहा कि बादशाह तुमको प्रेम करता है और तुम उससे कहना कि हमारे गांव में एक स्कूल खोल दे। जब वह गया तो बादशाह नमाज पढ़ रहा था। मस्जिद में वह पीछे खड़ा हो गया कि वह नमाज पढ़ ले तो फिर कहूं। बादशाह ने नमाज पढ़ी और कहा: हे परमात्मा मेरे राज्य को और बड़ा कर। मेरे धन को और बढ़ा। मेरे यहां के क्षितिज और बड़े कर, मुझे और ऊपर उठा। बादशाह यह कहकर उठा। उसने देखा फकीर वापिस लौट रहा है। उसे फकीर की पीठ दिखायी पड़ी। वह पीछे दौड़ा और फकीर को पकड़कर बोला :" आये भी, और चले भी, बात क्या है?" फकीर ने कहा:–मैंने तो सोचा कि तुम प्रार्थना कर रहे हो। मैं तो समझा परमात्मा से तुम्हें प्रेम है लेकिन मैंने जो सुना उसने मेरी आंखें खोल दीं। मैंने पाया तुम भी भिखारी हो और मांग रहे हो। जो भिखारी हैं वह प्रेम नहीं कर सकते और न प्रार्थना कर सकते हैं। स्मरण रहे, वे केवल भीख मांग सकते हैं। प्रेम नहीं कर सकते। क्योंकि प्रेम तो दान है। वह तो सहज दान है। प्रेम तो केवल वही कर सकते हैं जो भिखमंगे नहीं सम्राट हैं। और वे ही प्रार्थना भी कर सकते हैं क्योंकि प्रार्थना प्रेम की पूर्णता ही है।

एक संन्यासी अमरीका में था। वहां के प्रेसिडेंट ने उसे आकर पूछा कि मैंने सुना है कि तुम अपने को बादशाह कहते हो? उस संन्यासी ने कहा निश्चित ही, क्योंकि केवल सन्यासी ही बादशाह हैं। उसने कहा, यह तो बड़ी हैरानी की बात है। दो लंगोटी मुश्किल से तुम्हारे पास हैं और अपने को कहते हो बादशाह। उस संन्यासी ने कहा: जिसकी कोई मांग नहीं है वह बादशाह है और जो मांगता है वह भिखारी है। संन्यासी कुछ मांगता नही है और स्मरण रखें, जो मांगता नहीं है वही केवल देने में समर्थ हो पाता है। जो मांगता है वह कैसे देने में समर्थ होगा। जिसकी अभी मांग बाकी है वह देगा कैसे? वह उससे नहीं बन पड़ेगा। जिसकी मांग खत्म हो जाती है वह देता है। प्रेम दान है। महावीर या बुद्ध, या कृष्ण या क्राइस्ट—

क्या वे प्रेम से खाली हो गये थे? नहीं, नहीं। वे तो और सबसे खाली हुये ताकि प्रेम से भर जायें। वीतरागता राग से, विराग से मुक्ति है—प्रेम से नहीं। राग और विराग का घासपात नष्ट हो जाने पर ही तो प्रेम के फूल आत्मा में लगते हैं। जब कोई राग-विराग आसक्ति—अनासक्ति के सभी द्वन्दों से शांत हो जाता है तभी तो उसमें प्रेम का जन्म और जागरण होता है। प्रेम निर्द्वन्द्व चेतना की ही तो सुगंध है। वह सब भांति शांत और स्वस्थ हुई आत्मा की ही तो ज्योति है। जब कोई चेतना सब भांति के राग-द्वेष से ऊपर उठ जाती है तो फिर उसमें प्रेम ही शेष रह जाता है। प्रेम स्वभाव है। प्रेम स्वरूप है। वह राग-द्वेष-के कारण ही प्रगट नहीं हो पाता है। जैसे ही कोई उनसे मुक्त होता है वैसे ही उसका मुक्तहस्त दान प्रारंभ हो जाता है। जैसे सूरज से प्रकाश झरता है वैसे ही ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति से प्रेम झरता है। प्रेम परीक्षा है। प्रेम कसोटी है। अगर प्रेम न झरता हो तो समझना ज्ञान किताबों और शास्त्रों से आया है। वह ज्ञान सच्चा नहीं है। अगर ज्ञान भीतर से आया हो तो उसकी परीक्षा और कसोटी प्रेम होगी। इसलिए जगत में जब भी कोई ज्ञान को उपलब्ध होता है तो उसका जीवन और आचरण प्रेम को उपलब्ध हो जाता है। प्रेम ही नीति है। क्योंकि जब प्रेम होता है तो अनीति असम्भव हो जाती है। प्रेम ही अहिंसा है क्योंकि जब प्रेम होता है तो किसी को दुख देना असम्भव हो जाता है और प्रेम ही सत्य है और प्रेम ही सब कुछ है। क्योंकि प्रेम हो तो सब ठीक हो जाता है।

साधु अगस्तीन एक गांव में गया था और लोगों ने उससे पूछा कि हम क्या करें? उससे लोग पूछते जगह जगह कि हम क्या करें? मुझसे भी पूछते हैं। हिंसा से कैसे बचें? असत्य से कैसे बचें? चोरी से कैसे बचें। सत्य कैसे बोलें? ब्रह्मचर्य कैसे उपलब्ध करें? ऐसी ही और बहुत सी बातें पूछते हैं। मैं उनसे वही कहता हूँ जो अगस्तीन ने उस गांव के लोगों से कहा था। अगस्तीन ने कहा था कि छोटा सा काम करो। उन्होंने पूछा: क्या? तो अगस्तीन ने कहा: "प्रेम करो; अशेष भाव से प्रेम करो और बाकी की फिक्र छोड़ दो। अगर तुमने प्रेम किया तो प्रेम के बाद तुम जो भी करोगे वह ठीक होगा और अगर तुमने प्रेम नहीं किया तो तुम जो भी करोगे वह कभी भी ठीक नहीं हो सकता है।" यही मैं कहता हूँ। प्रेम-प्रेम और प्रेम। प्रेम के ढाई अक्षरों में परमात्मा का सब रहस्य छिपा है। प्रेम से जो भर जाता है, वह परमात्मा से ही भर जाता है। प्रेम के दिये को जलाओ और उसके प्रकाश को फैलने दो। प्रेम से

बड़ा और कुछ भी नहीं है। प्रेम से पावन और पवित्र और कुछ भी नही है। प्रेम परमात्मा है।

●एक प्रश्न है: मैं कहता हूं कि ध्यान करें। तो पूछा है कि किसका ध्यान करें? यह बिल्कुल स्वाभाविक है, यह बिल्कुल ठीक ही है। जब हम कहेंगे कि ध्यान करो तो ख्याल उठता है कि किसका ध्यान करें, जब मैं कहूं प्रेम करें तो ख्याल उठता है कि किससे प्रेम करें? जब मैं कहूं ज्ञान को उपलब्ध हों तो प्रश्न उठेगा किसके ज्ञान को उपलब्ध हों?

असल में हमको यह पता नहीं है कि प्रेम, ज्ञान या ध्यान संबंध (रिलेशनशिप) नहीं हैं, आत्म अवस्थायें हैं। इसे थोड़ा समझना होगा। साधारणतः हम समझते हैं कि जब भी मैं प्रेम करूंगा तो किसी से करुँगा, यह गलती है। प्रेम अंतर्स्थिति है। उसका किसी से होना नहीं, वरन् उसका स्वयं में होनाही केन्द्रीय है। सूर्य प्रकाश है, वह स्वयं में प्रकाश है। किसी का उससे प्रकाशित होना गौण है। और कोई उससे प्रकाशित भी होता है तो इसीलिये कि वह स्वयं प्रकाश है। लेकिन किसी के प्रकाशित होने के कारण वह प्रकाश नहीं है। उसका प्रकाश होना किसी के भी प्रकाशित होने के पूर्व है। ऐसा ही प्रेम है, ऐसा ही ज्ञान है। और ऐसा ही ध्यान है। ऊपर से तो यही लगता है कि जब भी हम प्रेम करेंगे तो किसी से करेंगे, लेकिन यह समझिये कि जब मैं किसी से प्रेम करूंगा तो प्रेम करने से पहले मेरे भीतर होना चाहिये न? प्रेम मेरी अवस्था होनी चाहिये तब तो मैं प्रेम करूंगा। एक कुयें से हम पानी खींचते हैं लेकिन कुयें में पानी होना चाहिये न, खींचने के पहले? और हम न खींचें तो क्या कुयें में पानी न रह जायेगा? हम न खींचें तो भी कुयें में पानी रहेगा और हम खीचें तो भी पानी रहेगा। खींचने के पहले भी पानी है, खींचने के बंद होने के बाद भी पानी है। पानी तो कुयें के भीतर है। आपके खींचने से उसका कोई संबंध नहीं। अगर मेरे भीतर प्रेम है तो आप आयें तो आपको प्रेम मिलेगा, न आयें तो प्रेम शून्य में झरता रहेगा। लेकिन प्रेम मेरे भीतर न रह जायेगा, ऐसा न समझें। अगर कोई भी न रह जाये और मेरे भीतर प्रेम हो तो वह झरता रहेगा। निर्जन में खिले फूल की भांति उसकी सुवास फैलती रहेगी। सुवास का होना ही उसका फैलना है.....कोई जाने या न जाने। दिये को हम जलायें और उसके पास से निकलें तो दिये का प्रकाश हम पर पड़ेगा। और यदि कोई न निकलेगा तो क्या समझते हैं कि दिया बुझ जायेगा? नहीं। दिया तो जलता रहेगा, प्रकाश खाली जगह में पड़ता रहेगा। ऐसा ही प्रेम है।

प्रेम चेतना की अवस्था है। वह संबंध नहीं है। उसका किसी से कोई संबंध नहीं है। वह तो भीतरी अवस्था है। जो उसके सामने जाता है तो उस पर पड़ जाता है, कोई नहीं आता है तो नहीं पड़ता है। ऐसे ही ध्यान भी एक अवस्था है। यह मत सोचें कि राम का ध्यान करें, कृष्ण का करें, महावीर का करें, बुद्ध का करें, इसका करें, उसका करें। ध्यान का संबंध किसी से नहीं है। ध्यान की अवस्था का मेरा जो अर्थ है वह है चित्त की परिपूर्ण शांत और निस्तरंग स्थिति। अगर किसी का ध्यान कर रहे हैं तो वह तो तरंग हो गई. वह स्थिति निस्तरंग कैसे होगी? वह तो स्वयं एक तरंग हो गई। अगर आप किसी का ध्यान कर रहे हैं, तो वह ध्यान नहीं है, विचार ही है। किसी के ध्यान का अर्थ ही है कि आप विचार कर रहे हैं, ध्यान नहीं। चित्त में जब तक कोई विषय उपस्थित है तब तक वह विचार ही है।

ध्यान और विचार में मौलिक अंतर है। विचार का अर्थ है चित्त में किसी का होना। विचार बिना किसी के हुये कभी नहीं हो सकता है। विचार हमेशा एक संबंध है। विचार चित्त में विषयः (आबजेक्ट) की उपस्थिति है। वह उस विषय से ही संबंध है। विचार हमेशा किसी का होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि आप विचार कर रहे हों और कह दें कि मैं किसी का विचार नहीं करता, मैं तो सिर्फ विचार कर रहा हूं! ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा होना असंभव है। विचार में सदा ही द्वैत है। वह द्वैत की ही प्रक्रिया है। मैं हूं और कुछ और भी है.....तभी विचार है। मैं ही मैं हूं.....बस मैं ही हूं तो वहां कहां विचार है? विचार की दो स्थितियां हैं.....चंचलता और एकाग्रता। चेतना के समक्ष विषय बदलते रहें तो चंचलता है और विषय एक ही हो तो एकाग्रता। लेकिन न चंचलता ध्यान है, न एकाग्रता। ध्यान का अर्थ है निर्विषय चेतना। ध्यान निर्विचार की अवस्था है। वहां न चंचलता है न एकाग्रता है। क्योंकि वहां तो कोई विषय ही नहीं है। वहां तो बस चैतन्य ही है। वहां तो विचार प्रवाह की फिल्म बंद हो गई है और दर्शक अपने घर लौट आया है। इसलिये मैं कहता हूं कि विचार तो हमेशा किसी का होगा। उसका संबंध किसी से होगा। लेकिन ध्यान में हो सकते हैं बिना किसी के। क्योंकि ध्यान का अर्थ ही है... सब विचार बंद। राम का, कृष्ण का और महावीर का भी बंद। सब विचार जहां बंद हो गये हैं, उस निर्विचार अवस्था में जो चित्त की दशा है उसका नाम है ध्यान। ध्यान को ऐसा मत सोचें कि किसी का ध्यान करना है। प्रचलित बातें ऐसी हैं कि हम राम का ध्यान कर रहे थे। कहना चाहिये था

कि हम राम का विचार कर रहे थे, ध्यान नहीं। ध्यान का अर्थ ही हुआ जहां कोई नहीं है और मैं अकेला हो गया हूं। हम सदा किसी के साथ हैं। अकेले कभी भी नहीं। बाहर कोई न हो तो भीतर कोई होता है। वस्तुतः कोई न हो तो विचार में कोई होता है। संसार की आकृतियों और संगी साथियों से ऊब जाते हैं तो राम का, कृष्ण का, क्राइस्ट का साथ कर लेते हैं। लेकिन अकेले कभी नहीं होते। और मैं अकेले होने को ही ध्यान कहता हूं। देखें। देखें। अकेले होकर देखें। उससे अद्‌भुत और कोई अनुभव नहीं है। उससे सुंदर और कोई अनुभति नहीं है। उससे सत्यतर और कोई साक्षात् नहीं है। उस अकेले होने में ही "मैं" मिट जाता है क्योंकि वह दूसरों के साथ होने से पैदा हुआ प्रतिबिंब है। वह 'तू' की छाया है। वह 'पर' की प्रतिध्वनि है। वह अकेले में नहीं हो सकता है। वह द्‌वैत में ही है। अद्‌वैत में वह नहीं हो सकता है। चेतना जहां बस स्वयं है, वहीं 'मैं' मर जाता है। और 'मैं' के जाते ही वे द्‌वार खुल जाते हैं जो कि परमात्मा के हैं।

एक रात्रि की बात है। अमावस की। पृथ्वी अंधकार से और आकाश तारों से भरा था। मैं एक निर्जन मार्ग के किनारे चुपचाप बैठा था। बस बैठा ही था। केवल बैठा ही था। न बाहर कोई साथ था, न भीतर। और तभी कोई आया और उसने पूछा: 'आप यहां क्या कर रहे हैं?' 'मैंने कहा: "कुछ भी नहीं। बस हूं .....बस हूं।" शायद वह नहीं समझा। शायद आप भी नहीं समझ पा रहे हैं। क्योंकि मात्र समझ लेने में समझ ही कैसे सकते हैं। देखें।....होकर ही देखें। होकर ही जाना जा सकता है। और कोई मार्ग नहीं है। और कल पर न छोड़ें.....अभी ही देखें। यहीं देखें। विचारों पर पकड़ छोड़ दें, और मौन उन प्रवाह को देखते रहें .....देखते रहें। धीरे धीरे एक अभिनव शांति उतरने लगेगी और प्राण किसी मौन और अपरिचित निध्वनि संगीत से भर उठेंगे। विचार डूब जायेंगे और साथ ही विचारक भी। वह उनसे ही पैदा जो होता है। और फिर.....फिर जो शेष रह जाता है, वही ध्यान है, वही स्वयं का वास्तविक होना है। उसमें ही सत्य है, सौन्दर्य है, अमृत है। .....

मैं ध्यान करने को नहीं कहता हूं। ध्यान में जाने को कहता हूं। मैं प्रेम करने को नहीं कहता हूं। प्रेम में जाने को कहता हूं। जब आप चले जायेंगे प्रेम में तो सबसे प्रेम हो जायेगा और जब चले जायेंगे ध्यान में तो वहां पहुँच जायेंगे जो सबका स्रोत, सबका उद्‌गम और सबका केन्द्र है। जहां से सब पैदा होता है और जहां सब विलीन हो जाता है, क्या वही परमात्मा नहीं है?

एक प्रश्न है कि ज्ञान दर्शन और चारित्र..... इन तीन रत्नों को तीर्थंकरों ने मोक्ष का उपाय बताया है। क्या इससे आप सहमत हैं?

मैं न तो किसी से सहमत हूं और न असहमत। न ही किसी और को ही किसी से सहमत या असहमत होने की आवश्यकता है। सत्य की खोज में ऐसी सहमतियां या असहमतियां साधक नहीं, बाधक बन जाती हैं। स्वीकृति या अस्वीकृति से सत्य को नहीं जाना जा सकता है। ऐसे ही तो पक्षपात निर्मित होते हैं और जो चित्त जितने पक्षपातों से भर जाता है, वह उतना ही सत्य के साक्षात् में असमर्थ हो जाता है। सत्य साक्षात् की पहली और अनिवार्य शर्त है: निष्पक्ष और तटस्थ चित्त। तीर्थंकर, अवतारों और ईश्वरपुत्रों से स्वयं को न बांधें। किसी से भी स्वयं को न बांधें। ऐसे बंधन दासता तो ला सकते हैं, मुक्ति या मोक्ष उनसे नहीं आ सकता है।

जीवन को उधार आंखों से नहीं अपनी ही आंखों से देखें.....सोचें और समझें। शास्त्रों को बीच में न लें। उनके कारण स्वयं की आंखों का खुलना असंभव ही हो जाता है। जो व्यक्ति भी दूसरे की आंखों पर विश्वास कर लेता है, वह उस अवसर और चुनौती को खो देता है, जिसमें कि उसके स्वयं के चक्षु खुल सकते थे। विश्वास मात्र स्वयं को अंधा करते हैं।

मैं कहता हूं: विश्वास नहीं विवेक। विवेक को अपना आधार बनावें। उसके आधार पर और केवल उसके आधार पर ही ज्ञान का भवन खड़ा होता है। जो विश्वास से अपने जीवन की नींव भरते हैं वे गहन अज्ञान और अंधकार में प्रविष्ट हो जाते हैं। यह अज्ञान इसलिये गहन होता है क्योंकि वह ज्ञान की भांति ही स्वीकार किया जाता है। और जब अज्ञान ही ज्ञान का अभिनय करता है तो उसे तोड़ना असंभव हो जाता है।

ज्ञान स्वयं के विवेक के जागरण के अतिरिक्त और किसी भी भांति उपलब्ध नहीं होता है। ज्ञान किसी और से नहीं मिल सकता है। ज्ञान ऋण की भांति नहीं पाया जा सकता है। ऐसे ज्ञान को ही मैं सम्यक् ज्ञान कहता हूं। शेष सब ज्ञान मिथ्या हैं।

सम्यक् ज्ञान का मार्ग क्या है?

मार्ग है: ध्यान। ध्यान से अर्थ है चित्त की शांत, मौन, निस्तरंग किंतु अत्यंत जीवन्त और जागृत स्थिति। ध्यान का अर्थ: जड़ता और मूर्च्छा नहीं है। ध्यान का अर्थ तल्लीनता नहीं है। क्योंकि तल्लीनता मूर्च्छा ही है। ध्यान यानी परिपूर्ण जागरूकता। समग्र रूप से सजग चेतना ही उस ज्ञान को उपलब्ध होती

है जो कि स्वयं का ही स्वरूप है। सत्य है स्वयं में। किन्तु हम हैं सोये हुये। जागते ही, होश में आते ही, वह पा लिया जाता है। सत्य शास्त्रों में नहीं है, और जो उसे वहां खोजता है, वह मिथ्या ज्ञान के अतिरिक्त और कहीं नहीं पहुंचता है। और मिथ्या ज्ञान अज्ञान से भी ज्यादा घातक है। क्योंकि अज्ञान से तो मुक्त होने की आकांक्षा होती है। लेकिन मिथ्याज्ञान अहंकार की तृप्ति बन जाता है। तथाकथित पंडित इसलिये वास्तविक प्रज्ञा को उपलब्ध नहीं हो पाते हैं।

ज्ञान का अर्थ शास्त्रज्ञान नहीं है।

दर्शन का अर्थ शास्त्रश्रद्धा नहीं है।

चारित्र का अर्थ शास्त्रानुसार आचरण नहीं है।

शास्त्रों से मात्र शब्द मिलते हैं। शब्दों से स्मृति भर जाती है और ऐसे ज्ञान का धोखा पैदा होता है। शास्त्र श्रद्धा से विवेक के जागरण में बाधा पड़ती है। श्रद्धा मात्र अंधी होती है। वह अंधा करती है और मूर्च्छित करती है। और शास्त्रानुसार आचरण अभिनय होता है और पाखंड को पैदा करता है।

ज्ञान का अर्थ है : स्व–ज्ञान।

दर्शन का अर्थ है : स्व–ज्ञान से उपलब्ध साक्षात्।

चारित्र का अर्थ है : स्वज्ञान से सहज स्फुरित आचरण।

ज्ञान से सहज ही दर्शन मिलता है। दर्शन से सहज ही आचरण प्रवाहित होता है।

ध्यान से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से आचरण–ऐसा ही वह मार्ग है जो मुक्त करता है। इसलिए प्रश्न सदा ही ध्यान का है। सम्यक् ध्यान प्रथम सीढी है, प्रथम द्वार है। वह गलत हो तो फिर शेष सब गलत हो जाता है। ध्यान बीज है। उसके अंकुरण से ज्ञान का पौधा जन्मता है। ज्ञान का नवजात पौधा जब जड़े जमाकर खड़ा हो जाता है तो वही दर्शन है। और उस पौधे से जो फल लगते हैं वही आचरण है।

इसलिए साधना का आधारभूत और केन्द्रीय तत्व ध्यान है।

और इसके पूर्व कि हम सम्यक् ध्यान (Right Meditation) को समझें, मिथ्या ध्यान को पहचान लेना आवश्यक है।

सम्यक् ध्यान है : आत्म–स्मृति का पथ। जागरूकता और अमूर्च्छा का पथ।

मिथ्या ध्यान है : मूर्च्छा और निद्रा की विधि। वह है आत्मविस्मरण। वह है अचेतना में पतन।

मनुष्य का चित्त अधिकांश में अचेतन (Unconscious) है। उस

अचेतन का एक अल्पांश ही चेतन बन पाया है। इस अल्पांश को भी अचेतन में डुबा देना मिथ्या ध्यान है।

और जो अचेतन है, उसे भी सचेतन बना लेना सम्यक् ध्यान है।

जीवन के दुख, चिन्तायें और भय, ऊब और व्यग्रता से बचने के दो उपाय हैं। एक तो है स्वयं की सत्ता को उसकी परिपूर्णता में जान लेना। लेकिन वह कष्ट-साध्य है। वह तप है। दूसरा है, स्वयं को किसी मद में, किसी मूर्च्छा में किसी नशे में डुबो देना। शराब या सेक्स, भजन-कीर्तन, जप आदि बहुत विधियों से व्यक्ति स्वयं से पलायन कर सकता है। स्वयं को भुलाना कठिन भी नहीं है। राष्ट्र या धर्म, आदर्श या सिद्धान्त से स्वयं का तादात्मय कर लेने से भी यह पलायन हो जाता है। मनोरंजन के सब मार्ग भी यही करते हैं। किन्तु ऐसे दुख मिटता नहीं। बस केवल भूला रहता है। दुख के आधार तो आत्म-अज्ञान में हैं। उस अज्ञान के मिटे बिना वह भी नहीं मिट सकता है। और स्वयं को किसी भी भांति भूले रहने से आत्म-अज्ञान मिटता नहीं, केवल जीवन का वह समय, वह शक्ति और अवसर समाप्त होता है, जिसमें कि वह मिट सकता था।

इसलिए, मैं निवेदन करता हूं कि स्वयं को भूलने की भूल में भूलकर भी न पड़ें। वह दिशा सुखद मालूम होगी————आकर्षक भी——सरल भी। लेकिन वह मिथ्या है। वह ध्यान की नहीं, आत्म-सम्मोहन और निद्रा की दिशा है।

एक बात सदैव स्मरण रखें कि मूर्च्छा—विस्मृति—निद्रा कभी भी सत्य के उद्घाटन की विधि नहीं हो सकती है। क्योंकि जो सो गया है, वह सोने के कारण ही जानने में असमर्थ हो जाता है।

ज्ञान तो जागरण में——जागृति में, होश और सजगता में ही घटित हो सकता है।

और ऐसे ज्ञान का ही मूल्य है और ऐसा ज्ञान ही मुक्त कर सकता है।

इसलिए सम्यक् ध्यान स्वयं के भीतर सब भांति की बेहोशी तोड़ने की विधि है। बेहोशी क्या है? बेहोशी कहां है? बेहोशी है स्वयं के चित्त के प्रति निरीक्षण (observation) के अभाव में। यह अनिरीक्षण ही मूर्च्छा है। चित्त के प्रति निरीक्षण से भरें, चित्त को देखें। उसके प्रवाह के प्रति जागें। जैसे जैसे यह जागरण आता है, वैसे वैसे ही चित्त विलीन होने लगता है। सुबह जब जागते हैं तो जैसे स्वप्न विलीन हो जाते हैं, ऐसे ही जब चित्त के प्रति जागेंगे तो पायेंगे कि उसका विक्षिप्त विचार-प्रवाह भी विलीन हो गया है।

और जैसे ही विचार नहीं होते, तब वह हो आता है जो कि हमारा वास्तविक होना है।

निर्विचार जागरण में——निर्विषय चेतना में स्वयं का साक्षात् होतः है। यही साक्षात् ज्ञान है।

और जो स्वयं ही जान लिया जाता है, वह संदेहातीत हो जाता है। यह संदेहातीत अवस्था दर्शन है। यही सम्यक् श्रद्धान् है। वह ज्ञान के प्रकाश में उपलब्ध हुई अडिग अनुभूति है। अब उसे न कोई छीन सकता है न मिटा सकता है। वह तो स्वयं की आत्मा ही है।

और ऐसे बोध, ऐसी श्रद्धा, ऐसे दर्शन——ऐसी आंखों से ही जो जीवन जन्मता है वही सम्यक् आचार है।

आंखोंवाला आचरण सम्यक् आचरण है।

अंधा आचरण असम्यक् आचरण है।

आंखे खुलती हैं तो उनके पीछे पीछे आलोकमय आचरण भी आता है। उसका आना अपरिहार्य है। वह आंखें होने का ही सहज फल है। उसे अलग से नहीं लाना होता है। उसे साधना नहीं पड़ता है। जो आचारण साधा जाता है और अभ्यास के परिणाम–स्वरूप उपलब्ध होता है, उसे ही मैं मिथ्या कहता हूँ।

अज्ञान में जिसे साधना पड़ता है, ज्ञान में वह स्वतः ही आता है।

सत्य, प्रेम, करूणा, अलोभ, अपरिग्रह, साधे हुये हों तो झूठे होत हैं। कागज के फूलों जैसी उनकी स्थिति होती है। उनके ठीक पीछे उनके विरोधी छिपे रहते हैं। सत्य के पीछे असत्य बैठा रहता है और प्रेम के पीछे घृणा खडी रहती है। ऐसे चेतना मुक्त नहीं होती उल्टे और भी अन्तर्द्वन्द्व से भर जाती है। और जिन्हें बलपूर्वक दबाया गया है उनका सतत ही विस्फोट होता रहता है। सम्यक् आचार आदत और अभ्यास नहीं है। वह स्वयं पर आरोपण नहीं है। वह तो स्वयं की आत्मा का अनावरण है। वह तो प्रज्ञा के चक्षु पा लेने का फल है। फिर जैसे आंखें रहते कोई दीवार से नहीं निकलता, द्वार से निकलता है, ऐसे ही सत्य और प्रेम और अहिंसा के द्वार से जीवन गति करने लगता है; और असत्य, घृणा और हिंसा की दीवार से टकराने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसलिए मैं कहता हूं: आचरण नहीं, आंखें खोलो। आंख होनेपर आचरण तो अपने आप आता है।

मैंने सुना है, ईरान में एक बहुत बड़ा जौहरी था। वह युवा ही था

तभी उसकी मृत्यु हो गई थी। उसके पीछे उसकी विधवा पत्नी, एक छोटा बच्चा और एक भाई बचा था। छोटे भाई ने उसका सारा व्यापार सम्हाल लिया था। उसकी विधवा पत्नी अपने पुत्र के बडे होने की प्रतीक्षा करती थी। निश्चय ही बड़ा होने पर वह भी अपने पिता जैसे ही बड़ा जौहरी बनेगा, इस आशा और प्रतीक्षा में ही उसने वर्षों बिता दिये थे। फिर वह लड़का बड़ा हुआ। उसकी मां ने कहा : मैंने कुछ बहुमूल्य हीरे—जवाहरात छिपाकर रखे हुए हैं। इसीलिए कि तुम बड़े हो जाओ तो तुम्हें सौंप दूं। उसने एक पोटली दी जिसमें कुछ बहुमूल्य पत्थर थे और अपने युवापुत्र से उसने कहा कि तू अपने चाचा के पास जा और इन्हें बेचने को कह। वह गया। उसने अपने चाचा से कहा कि अब समय आ गया है। मैं बड़ा हो गया हूं। मैं भी कुछ कार बार करूं तो ये हीरे जवाहरात बेच दें। चाचा ने पोटली खोलकर देखी और उस युवक को कहा पोटली बन्द करो और अभी घर ले जाओ। अभी बाजार भाव ठीक नहीं है। कुछ दिनों बाद जब बाजार भाव ठीक होंगे इसे बेंच देंगे। और एक बात स्मरण रखो, कल से घंटा भर दुकान पर जरूर आया करो। वे हीरे जवाहरात वापिस भेज दिये गये। उन्हें पुनः संभालकर तिजोरी में बन्द कर दिया गया। वह युवक घंटे भर के लिए रोज दुकान पर जाने लगा। कोई साल छः महीने बीतने पर एक संध्या उसका चाचा घर आया और उसको कहा कि वे हीरे जवाहरात बाहर निकाल लाओ। वह लड़का गया। उसने पोटली खोली। उन्हें देखकर वह हंसा और बाहर जाकर घूरे पर सबको फेंक आया। उसकी मां तो हैरान रह गयी। उसने कहा, यह क्या करते हो? वह बोला : "मां, ये सब नकली कांच कागज के टुकड़े हैं। इनमें कुछ मूल्य नहीं है।" उसके चाचा ने कहा "यदि यही मैं कहता तो विश्वास होना कठिन था।",

ज्ञान से दर्शन और दर्शन से आचरण होता है।

ज्ञान क्रांति है। ज्ञान मुक्ति है। ज्ञान मोक्ष है।

और धन्य हैं वे लोग जो ऐसे ज्ञान को उपलब्ध होते हैं क्योंकि परमात्मा का आनन्द—राज्य उन्हीं का है। वे ही जीवन को जान पाते हैं और वे ही मृत्यु का अतिक्रमण भी कर पाते हैं। ज्ञान है जहां, वही अमृत है।

—००—

एक बात अपनी ओर से भी अंत में कहना चाहता हूं। क्योंकि आपके प्रश्न तो समाप्त हो गये हैं। आपके भीतर से तो नहीं हुये होंगे। लेकिन जो कागज मेरे पास हैं, उनपर से जरूर समाप्त हो गये हैं।

वह अंतिम बात यह है कि प्रश्न एक तरह की मानसिक बीमारी हैं। उनमें खोते जाना खाज खुजलाने जैसा है। रस तो आता है, लेकिन खुजलाने से बीमारी बढ़ती है। ऐसी बीमारी से ही तो सारे विचार-दर्शन फिलसेफ पैदा हुये हैं। उनसे प्रश्न मिटे नहीं, बढ़े ही हैं। क्योंकि हर उत्तर अपने साथ और नये प्रश्न भी ले आता है। पुराना प्रश्न तो रहता ही है और नये प्रश्न खड़े हो जाते हैं। जीवन का कोई भी असमाधान बौद्धिक समाधानों से समाप्त नहीं होता है। क्योंकि प्रश्न हैं भीतर और उत्तर आते हैं बाहर से। इसलिए सब प्रश्नों के उत्तर भी कोई दे दे तो भी कोई उत्तर नहीं मिलता है। प्रश्न है प्राणों में और उत्तर हैं शब्दों के जो कि स्मृति से गहरे नहीं जाते हैं। उन उत्तरों से प्रश्नों का कहीं मिलन ही नहीं होता है। वे उत्तर प्रश्नों को कहीं भी नहीं काटते हैं। ऐसे बुद्धि में उत्तर इकट्ठे हो जाते हैं और जीवन में प्रश्न बने रहते हैं। प्रश्न हैं आपके और उत्तर? उत्तर हैं बुद्ध के, महावीर के या मेरे या किसी और के। यही सारी उलझन है। उत्तर भी आपके ही चाहिए। वे उत्तर ही आपके प्रश्नों की समाप्ति बन सकते हैं।

फिर क्या करें?

पहली बात किसी और से उतर की आशा और अपेक्षा न रखें। वह आशा एकदम ही भ्रांत है। और दूसरी बात: किसी भी उतर से अपने प्रश्न को ही ज्यादा मूल्यवान समझें। क्योंकि उत्तरों में नहीं, बल्कि उस प्रश्न में ही वह मार्ग है जो कि उत्तर तक पहुँचा सकता है।

तीसरी बात: मौन और शांत और सजग होकर प्रश्न के उत्स को खोजें। खोजें कि प्रश्न कहां से उठ रहा है। उस उत्स पर पहुँचते ही प्रश्न विलीन हो जाता है। और जहां प्रश्न नहीं है, वहीं उसका उत्तर है। प्रश्न के पीछे ही उत्तर छिपा है। सत्य की खोज में, आत्म की खोज में। प्रश्नों के उत्स पर पहुंच जाना ही उत्तर पर पहुंच जाना है। पदार्थ के संबंध में प्रश्न भी बाहर है। उतर भी। आत्म के संबंध में प्रश्न भी भीतर है, उत्तर भी। इसलिए बाहर न खोजना खोज की पहली शर्त है।

एक साधु बोल रहा था और हजारों लोग उसे सुन रहे थे। उसने कहा कि जानो कि तुम कौन हो। एक आदमी बीच में खड़ा हुआ और उसने कहा: "ठीक से समझाइये कि मैं कौन हूं?" उस साधु ने अपना बोलना बन्द कर दिया। वह मंच से नीचे उतरा और उसने कहा: "मित्रों, जरा मार्ग दो मैं उस आदमी को पकड़ूंगा, क्योंकि बिना उसे पकड़े उत्तर देना कठिन है। और

जब उसने पूछ लिया है तो उत्तर तो देना ही पड़ेगा।" भीड़ ने रास्ता छोड़ दिया और लोग घबरा गये कि यह क्या पागलपन है? उस बेचारे ने प्रश्न ही तो पूछा है। इसमें उसे पकड़ने का क्या काम है। भीड़ उठकर खड़ी हो गई। वह आदमी बीच में खड़ा रह गया और बड़े पसोपेश में पड़ गया। वह साधु पहुंचा और जाकर उसकी गर्दन को जोर से पकड़ लिया और उससे कहा : "फिर से पूछ तो तेरा उत्तर दूं?" वह व्यक्ति तो बहुत घबरा गया कि यह कैसी मुसीबत में पड़ गया हूं। वह तो घबराकर खड़ा का खड़ा ही रह गया। उसे कुछ प्रश्न नही सूझा। साधु ने कहा: "मतलब यह हुआ कि प्रश्न बहुत गहरा नहीं है। क्योंकि मैंने गर्दन पकड़ी और वह हवा हो गया। मालूम होता है कि ऐसे ही पूछ लिया था। सोचा होगा कि आ गये हैं तो कुछ पूछ ही लें। ऐसे प्रश्नों का कोई मूल्य नहीं है और यदि पूछना ही है तो ठीक से पूछ फिर से।" उस आदमी ने फिर से हिम्मत जुटाई और कहा कि मैं पूछता हूँ कि आखिर मैं कौन हूँ।

वह अद्‌भुत साधु बोला: "अब जहां से यह प्रश्न उठा है वहीं लौट चल। कहीं से उठा है न तेरे भीतर से ? एक क्षण था कि यह प्रश्न नहीं था। अब एक क्षण हुआ कि यह प्रश्न उठा। फिर एक क्षण आया कि तू ने प्रश्न प्रगट कर दिया। तो कहीं से यह उठा है और बाहर आकर प्रगट हो गया है। जहां से यह उठा है वह जगह तो अभी भी तेरे भीतर है। तो कृपा कर और इसी प्रश्न की सीढ़ीपर वापस लौट जा। जहां से यह उठा है वहीं जा और उस जड़ को पकड़ जहां से यह उठता है। और तुझे उत्तर मिल जायगा और न केवल इसका, बल्कि शेष सारे प्रश्नों का भी।" पता नहीं फिर आगे क्या हुआ। वह व्यक्ति उतरा प्रश्न की जड़ तक या नहीं यह भी मुझे ज्ञात नहीं है। लेकिन यही मैं आपसे भी चाहता हूँ जहां से प्रश्न उठते हैं वहीं चले जायें। लेकिन हम क्या करते हैं? प्रश्न उठते हैं भीतर और खोजने चले जाते हैं बाहर। इसी से भूल जाते हैं, भटक जाते हैं। प्रश्न उठा भीतर और हम चले पूछने किसी से कि इसका क्या उत्तर होगा। नहीं, नहीं, एसा न करें। किसी से पूछने न जायें। जहां से प्रश्न उठा है वहीं उतर जायें और आप दंग रह जायेंगे। प्रश्न के नीचे ही उत्तर भी छिपा हुआ है।'

आत्मज्ञान की दिशा में हर प्रश्न अपने उत्तर को लिये है। क्योंकि जिसका उत्तर आपके भीतर न हो उसका प्रश्न आपके भीतर कभी नहीं उठ सकता है। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक तरफ प्रश्न है, दूसरी तरफ उत्तर है। जो उल्टाकर जानता है वह प्रश्न के पीछे उत्तर को उपलब्ध कर लेता है।

एक पहलू प्रश्न और दूसरा पहलू उत्तर है। एक ही सिक्के के ये दो पहलू हैं। जिसके भीतर प्रश्न है उसके ही भीतर उत्तर है। लेकिन पहली बात प्रश्न असली हो। गर्दन पकड़ने से भूल न जायें। और दूसरी बात कि भीतर उतरने की जागरुकता हो तो सारे प्रश्नों के उत्तर मनुष्य को अपने भीतर मिल सकते हैं। और देखिये, महावीर जब गये साधना में, कितने ग्रंथ साथ ले गए थे पता है ? जब मोहम्मद पहाड़ पर गये, कितनी किताबें साथ ले गये थे। बुद्ध या क्राइस्ट जब खोज के लिए गये तो कितने सिद्धान्त थे उनके साथ, कितने शास्त्र थे ? शास्त्रों को, शब्दों को, सिद्धान्तों को छोड़कर ही सत्य पाया जाता है। मौन में, एकान्त में, शांति और धैर्य से स्वयं से पूछो। किसी और से नहीं स्वयं से ही पूछो, और पूरी शक्ति से पूछो। और समग्र प्राणों को उस जिज्ञासा में आंदोलित हो जाने दो। बस प्रश्न ही रह जाय, और कुछ भी नहीं। ऐसी तीव्र जिज्ञासा में उस प्रश्न के उत्स को खोजो—खोजो और खोजो। गहरे और गहरे बैठते जाओ। किनारे मत बैठ रहना। कबीर ने कहा है: "गहरे पानी पैठ"। सो गहरे जाना और जब गहराई पूर्ण होगी तो पाओगे कि प्रश्न ही उत्तर बन गया है। उथले में प्रश्न है। गहरे में उत्तर है। उथलापन ही प्रश्न है। गहराई ही उत्तर है। मित्र, मैं फिर दोहराता हूँ गहराई ही उत्तर है और यह गहराई कोई और नहीं दे सकता है। जाओ और स्वयं में डूबो। स्वयं की मृत्यु से ही मृत्यु का अनुभव होता है। और स्वयं के डूबने सेही सत्य का। इसलिए मेरे उत्तरों को भूल जाना। लोग समझाते हैं कि हमने जो समझाया उसे गांठ बांध लेना। मैं कहता हूं कि मैंने जो समझाया उसे भूलकर भी गांठ मत बाँध लेना। मैं तो निवेदन करता हूं कि और भी जो कुछ गांठ बांधा हो उसे खोल देना। जब चित शब्दों से पूरी तरह शून्य हो जाता है, तो उस शून्य में ही पूर्ण उद्घाटित होता है। सत्य तो सदा उपस्थित है। लेकिन केवल वे ही उसे जान पाते हैं जो कि सब भांति मौन और शून्य हैं।

जीवन की दिशा :

एक अंधेरी रात्रि में ईसा के पास निकोडेमस नामक एक यवक पहुंचा। वह आनन्द और शांति की खोज में था। जब उसने ईसा से यह प्राप्त करने के लिये प्रार्थना की तब ईसामसीह ने उससे कहा : "मित्र, इसके पूर्व कि तुम आनन्द को पा सको, तुम्हें अपना नया जीवन आरंभ करना होगा।" पता नहीं, निकोडेमस ईसा के अर्थको समझा या नहीं, पर यह सत्य है कि हम जिसे जीवन

समझते हैं, ईसा और कृष्ण, बुद्ध और महावीर उसे जीवन नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में जीवन के और ही अर्थ थे। जिसे हम जीवन समझते हैं, वह तो हमें प्रकृति से मिल जाता है। जिसे वे जीवन समझते थे उसे संस्कार से प्राप्त करना पड़ता है। उस जीवन के लिये साधना करनी पड़ती है, और जो उस जीवन को पा लेते हैं, उनके लिये यह जीवन एक प्रकार से मृत्यु में परिणत हो जाता है। इसे ही ध्यान में रखकर एक बार ईसा ने कहा था : "मैं कब्रों से तुम्हें उठाने आया हूं।" और जो यह कहा जाता है कि उन्होंने मुर्दों को जीवन दिया और अंधों को आंखें, वह इसी अर्थ में सत्य है। जो जीवन इस प्रकार के संस्कारों और साधन से उपलब्ध होता है, उसके लिये चेतना को एक विशेष दिशा में प्रवाहित करना होगा और प्राणों को एक विशेष संकल्प में आबद्ध। यह अन्य कोई जीवधारी नहीं कर सकता, मानव ही कर सकता है। ऐसे मनुष्य को शरीर, मन और समस्त इंद्रियों को एक विशेष केन्द्र पर केन्द्रित और संनद्ध करना पड़ता है। जीवन तब अराजकतामय नहीं रह जाता, वरन् अनुशासनमय बन जाता है। इसमें संदेह नहीं कि यह दिशा बड़ी श्रमसाध्य है, और हो भी क्यों न, क्योंकि जीवन को साध लेने से बड़ा और कोई ध्येय, उद्देश्य तथा कला नहीं हो सकती। आज जीवन के जो ध्येय और उद्देश्य निश्चित किये गये हैं और ये निश्चय ही वैज्ञानिक माने जा रहे हैं, उनसे क्या व्यष्टि और समष्टि का सच्चा सुख बढ़ा है? कहा जाता है, जीवन में रोटी का प्रश्न सबसे बड़ा है। रोटी का सवाल एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, यह हम भी स्वीकार करते हैं। 'भूखे भजन न होय गोपाला', इस कहावत को भी हम ठीक मानते हैं, परंतु रोटी के प्रश्न को हम सबसे अधिक महत्वपूर्ण सवाल नहीं समझते। यदि आधिभौतिक उपलब्धियां ही जीवन को सुखी बना सकतीं तो निर्धन अगर उन आधिभौतिक उपलब्धियों के बिना दुखी हैं तो धनवान् क्यों दुखी हैं, जिन्हें सारी आधिभौतिक सुख समृद्धि प्राप्त है? आधिभौतिक विकास को सर्वोपरि मान हम और सबको साधते हैं, परंतु इस साधना में हम सच्चे जीवन को छोड़ देते हैं। तन स्वाभाविक ही है कि हम कुछ पा लें और जो सच्चा जीवन है, उससे वंचित रह जायें। जो भी संताप, असफलता और विषाद् आज के मनुष्य के मन में दिखाई देता है, उसका यही कारण है कि हमने जीवन के सच्चे ध्येय, उद्देश्य और कला को भुला दिया है। यह कला सारी कलाओं की कला है। आज कलायें तो बहुत हैं, परंतु यह खो गई हैं। समृद्धि भी बहुत है। आधिभौतिक उपलब्धियों का ठीक वितरण भी हो जायेगा। शक्ति की भी कमी नहीं है। किन्तु इस समृद्धि के

बीच में भी मनुष्य बहुत दरिद्र हो गया है और शक्ति के शिखरों पर बैठकर भी उसकी इस अशक्ति की कोई सीमा नहीं है। बाहर सब कुछ है और भीतर नितांत रिक्तता है। अत्याधिक खोखलेपन का मनुष्य अनुभव कर रहा है।

फ्रांस में और समस्त यूरोप में एक आन्दोलन चल रहा है जिसका नाम है अस्तित्ववादी आन्दोलन। इस आंदोलन में मानव जीवन को अर्थहीन घोषित किया गया है। आज के मनुष्य को देखकर इस घोषणा का कोई अर्थ नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्य जैसा है, यदि उससे वह अन्यथा न हो सके तो फिर ये लोग जैसा कहते हैं, ठीक ही कहते हैं। किन्तु हम मानते हैं कि मनुष्य अन्यथा हो सकता है। चिन्ता, विषाद और संताप उसका स्वभाव नहीं है। जैसे कोई बीमारी का अध्ययन कर मनुष्य का कोई निर्णय करे तो वह निर्णय असत्य होगा, क्योंकि रुग्णतायें मनुष्य के स्वरूप नहीं, विकृतियां हैं। इसी प्रकार चिन्तायें, विषाद और संताप भी हैं। ये मन के अस्वस्थ रूप हैं। आध्यात्मिक रिक्तता का बोध उन सबका समग्रीभूत प्रभाव है। यदि मनुष्य आध्यात्मिक संस्कारों और साधनाओं द्वारा शिक्षित नहीं किया जायेगा तो उसके भाग्य में कुन्ठाओं के अतिरिक्त और कुछ होना संभव भी नहीं है।

मनुष्य तो जन्म से शूद्र ही है। यहां हम 'शूद्र' शब्द व्यापक अर्थ में ले रहे हैं। आज की वर्ण व्यवस्था में जो इस शब्द को जातीय अर्थ मिल गया है, उस अर्थ में नहीं। संस्कारों से ही वह द्विज होता है और संस्कार तथा द्विज शब्दों का व्यवहार भी हम व्यापक अर्थ में कर रहे हैं। जन्म से मनुष्य अनगढ पत्थर के समान है। वह जैसा है, उसे वैसा ही नहीं मान लेना चाहिये। उसे तो निर्मित करना होगा और तभी वह पत्थर मूर्ति का रूप धारण कर सकता है। पत्थर में मूर्ति छिपी होती है, किन्तु जब तक शिल्पी उसे उभाडे नहीं तब तक उसके दर्शन नहीं होते। मनुष्य के संबंध में यह कहना और भी उपयुक्त होगा कि पत्थर भी वही है, और शिल्पी भी वही है और मूर्ति भी वही है। उसे अपना आविष्कार स्वयं ही करना होता है। बाहर से मार्गदर्शन हो सकता है, किन्तु आरोपण नहीं। जड पर आरोपण हो जाता है, किन्तु चेतन पर और उस चेतन में भी मानव पर तो आरोपण असंभव है। मनुष्य को भीतर से जगाना है। उसे ऐसी व्यवस्था देना आवश्यक है जो शुभ है और सुन्दर है। इसका उसमें अंकुरण करना होगा। प्रेम को, शांति को, और अंतःसंगीत को उसमें पैदा किया जा सकता है। इन सबका जोड ही आनंद बन जाता। और तब न तो भीतर रिक्तता मालूम होती है और न बाहर अर्थहीनता के दर्शन होते हैं। ऐसे आनन्द का

जागरण पहले व्यक्ति के हृदय को एक आंतरिक समृद्धि से भर देता है और ऐसे व्यक्तियों का जोड समाज है।

किन्तु हम तो केवल आधिभौतिक विकास पर आजीविका सिखा रहे हैं। जीवन सिखाने की ओर हमारी कोई रुचि नहीं है। यह भूल मनुष्य को नष्ट कर रही है। हम कहने मात्र को ही चेतन मनुष्य रह गये हैं। अन्यथा हम जीवन की दृष्टि से एक खंडहर के तुल्य हो गये हैं। किसी ठीक ध्येय, उद्देश्य और जीवन की कला बिना हमारी यह स्थिति हुई है। स्मरण करें बुद्ध का जीवन, जो सब छोड़ सत्य को, और सत्य जीवन को पाने गये, या महावीर अथवा अन्य इसी प्रकार के त्यागी जीवन को। बुद्ध और महावीर भिखारी थे, किन्तु भीतर उन जैसा समृद्ध जीवन कभी देखा न गया। इस प्रकार के जीवनों पर विचार करने पर हमारे जीवन खंडहर ही तो ज्ञात होंगे। जो इन सबके भीतर था, उसकी सारी संभावना हमारे भीतर भी है। मूलतः हम भी वही हैं। अंतर इतना ही है कि उन्होंने जीवन को सीखा और हम जीवन से अपरिचित हैं। मात्र जी लेना ही जीवन नहीं है। जीवन उससे बहुत ऊपर है और केवल वे ही उसे जान पाते हैं, जो स्वयं में प्रवेश करते और स्वयं का साक्षात् करते हैं।

क्या दृश्य ही सबकुछ है?

अपनी आंखों से हम जो कुछ देखते हैं, और कानों से जो कुछ सुनते हैं, अर्थात् दृश्य जगत्, उसकी तत्काल और सहज अनुभूति के कारण हम वहीं तक सीमित रह जाते हैं और मान बैठते हैं कि इतना ही सबकुछ है। फिर आधुनिक काल के अधिकांश विचारकों ने यही सबकुछ है, इस पर मुहर भी लगा दी है।

इस जगत् में जो भी दिखाई पड़ता है, वही यथार्थ में सबकुछ नहीं है, वरन् जो दिखाई नहीं पड़ता, वह दिखाई पड़नेवाले से कहीं अधिक है। उसकी भी सत्ता है और उसकी केवल सत्ता ही नहीं है, बल्कि समस्त सत्ता का वह मूलाधार है। इस अदृश्य पर यदि हमारी दृष्टि न हो तो केवल दृश्य को देखकर जो जीवन दर्शन हम बनाते हैं, वह सदा ही अधूरा और अपूर्ण होगा। उसमें सार छूट जायेगा और निस्सार ही मुट्ठी में रह जायेगा। जैसे कोई गेहूं पर विचार करता हो और भूसे पर ही उसका चिन्तन रुक जाये तो जैसी भूल होगी, वैसी ही जीवन और जगत् के संबंध में उनसे हो जाती है, जो दृश्य पर ही ठहर जाते हैं और जिनकी दृष्टि अदृश्य तक नहीं पहुंच पाती।

मनुष्य में दोनों तत्व हैं. . . दृश्य भी, अदृश्य भी। जो दृश्य हैं, उसे दूसरे भी देख पाते हैं, किन्तु जो अदृश्य है, उसका अनुभव तो स्वयं को ही हो सकता है। दूसरों की आंखें हमें जितना देख पाती हैं या हमारी आंखें जितना दूसरों को, उतने को ही स्वीकार करना भौतिकवाद है। स्वयं में ही जो भौतिकता के परे अनुभव किया जाता है, उस अलौकिक की अनुभूति को स्वीकार करना अध्यात्म है। जो व्यक्ति बाहर ही देखते रहते हैं और कभी भीतर की ओर नहीं देखते, वे जीते तो हैं, किन्तु उनका कोई यथार्थ जीवन नहीं होता। यह हो सकता है और हुआ है कि आधिभौतिक दर्शन उनकी भौतिकवादी अवस्था को ही उनका जीवन दर्शन कहे, लेकिन हम उसे जीवन दर्शन इसलिये कहने में असमर्थ हैं, क्योंकि जो स्वयं की अंतःसत्ता को नहीं जानता, वह सच्चे जीवन से परिचित ही नहीं हो पाता। शरीर के अतिरिक्त अथवा दृश्य जगत् के अतिरिक्त जिसे और किसी तत्व का ज्ञान नहीं है, उसका संबंध जीवन से न हो, मृत्यु से ही है। शरीर मरणधर्मा है। समस्त दृश्य जगत् भी अनित्य है। यदि कोई बहुत गहराई से देखे तो शरीर मृत ही है, उसमें जो जीवन दिखाई पड़ता है, वह यथार्थ में उसका नहीं है, वह तो किसी अन्य तत्व के सानिध्य से उसे उधार मिलता है। कंडील का कांच जैसे प्रकाश को विकीर्ण करता मालूम होता है, किन्तु वह प्रकाश उसका नहीं होता, वैसे ही शरीर से जो जीवन प्रकट होता है, वह शरीर का नहीं, शरीर के पीछे छिपी किसी अंतर्ज्योति का है। वही जीवन का यथार्थ स्रोत है, वही सच्चा जीवन है। जो उसे जानता है और उसके आलोक में स्वयं को निर्मित करता है, केवल उसी का कोई जीवनदर्शन हो सकता है। भौतिकवाद को जीवनदर्शन कहना, दर्शन के साथ एक प्रकार का खिलवाड है। इसे खेल इसलिये कहते हैं, क्योंकि सच्चे जीवनदर्शन के अभाव को यदि हम जीवन दर्शन कह दें, तो वह दर्शन के साथ खिलवाड नहीं तो और क्या है? जो व्यक्ति मात्र जी रहा है और जीवन को साध नहीं रहा, उसकी न तो कोई सच्ची दृष्टि है और न कोई सच्चा दर्शन। उसकी तथाकथित विचारसरिणी को दर्शन नाम देना, वैसे ही है, जैसे किसी व्यक्ति की आंखें न हों और हम उसे अंधी आंखोंवाला व्यक्ति कहें। अंधी आंख स्व-विरोधी कथन है। वैसा ही भौतिक वादी जीवन दर्शन। आंखें अंधी नहीं हो सकतीं और जिन आंखों में अंधापन हो, उन्हें आंख कहना व्यर्थ है। वैसे ही जीवन दर्शन हो तो वह भौतिकवादी नहीं हो सकता और भौतिकवादी हो तो उसे जीवन दर्शन कहने में कोई तथ्य नहीं। सच्चे जीवन दर्शन का प्रारंभ उस बिन्दु से होता है, जहां हम प्रकृति के दिये

हुये दृश्य जगत् से ऊपर उठने के लिये सन्नद्ध होते हैं। प्रकृति ने जितना दिया है, उतने में तो पशु भी जीते हैं। उसके अतिक्रमण की आकांक्षा और संकल्प से मनुष्य सच्चे जीवन दर्शन को उपलब्ध करना आरंभ करता है।

प्रकृति दृश्य है और परमात्मा अदृश्य। दृश्य सभी की उपलब्धि है। अदृश्य की अनुभूति के लिये मानव को भी स्वयं तैयार करना पड़ता है। इस तैयारी की विधि ही सच्चा धर्म है। स्मरण रहे कि अदृश्य की प्रथम अनुभूति स्वयं में ही होती है, उसका अनुभव स्वयं के अतिरिक्त और कहीं नहीं हो सकता। जब कोई उसे स्वयं में जान लेता है तो सर्व में भी अनुभव कर पाता है। उस दृश्य की स्वयं अनुभूति का नाम आत्मा है, और सर्व में साक्षात् का नाम परमात्मा है। स्वभावतः धर्म अत्यन्त वैयक्तिक है। बाह्य जगत् से स्वयं को तोड़कर, इंद्रियों के सारे व्यापार को शून्य कर, मन के समस्त ऊहापोह से मुक्त हो, जब कोई व्यक्ति स्वयं के चैतन्य तत्व में प्रतिष्ठित होता है, तब दृश्य के परे अदृश्य के अनुभव को पाता है। यही सच्चे जीवन की अनुभूति है। इस जग में उसे कोई मृत्यु नहीं दिखाई पड़ती। जो तत्व यहां दिखाई पड़ता है, वह अमृत है। इसे जानकर ही सत्य को, शिव को और सुन्दर को जाना जाता है, और उन्हें जो जान लेता है, वह स्वयं सत्य, शिव और सुन्दर हो जाता है।

सभ्यता और संस्कृति

विश्व में न कोई ऐसी वस्तु है और न कोई ऐसी अनुभूति, जो केन्द्र और परिधि में विभाजित न हो। जिसकी सत्ता है, उसका केन्द्र भी होगा और उसकी परिधि भी। यह सम्भव नहीं कि परिधि हो और केन्द्र न हो, और यह सम्भव नहीं कि केन्द्र हो और परिधि का अभाव हो। वे अपरिहार्य रूप से संयुक्त घटनाएं हैं। केन्द्र प्राण है, परिधि उसका विस्तार। केन्द्र के ही मूल में परिधि छिपी रहती है, अतः प्रधान मूल्य तो सदा केन्द्र का है, परिधि का मूल्य गौण है। जो परिधि को महत्वपूर्ण मान लेते हैं, वे अत्यन्त भ्रान्त दशा में सत्य को खोजने लगते हैं, उनके सब प्रयास आकांक्षाओं के विपरीत परिणाम लाते हैं और उनकी शुभ आकांक्षाओं से अन्ततः अशुभ ही फलित होता है। संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ है। सभ्यता जिस सत्य की परिधि है, संस्कृति उसका केन्द्र है। प्रवाह सभ्यता से संस्कृति की ओर नहीं, वरन् संस्कृति की ओर से सभ्यता की ओर जाना चाहिए। परन्तु आज व्यष्टि और समष्टि के जीवन में जो हो रहा है, उससे गंगा गंगोत्री से निकल गंगासागर की ओर न जाकर गंगा-

सागर से गंगोत्री की ओर बह रही है। सभ्यता सधेगी तो संस्कृति सध जायेगी, यह कभी नहीं होगा। यह तो वैसी ही धारणा है कि शरीर होगा तो आत्मा आ जायगी, परन्तु ऐसा न कभी हुआ है और न होने की सम्भावना है, क्योंकि यदि ऐसा हो सकता तब तो मृत्यु ही असम्भव हो जाती। मरने के बाद भी शरीर तो रहता ही है, परन्तु आत्मा अनुपस्थित हो जाती है।

सभ्यता आचार है, संस्कृति अन्तस। जो भी आचार से प्रकट होता है, वह यदि अभिनव नहीं है, पाखण्ड नहीं है, तो उसका प्रारम्भ और सूत्रपात अन्तस् में होना चाहिए। अन्तस् से विकसित होकर जो आचार में आता है, वही सत्य और सम्यक् है। इसके विपरीत जो चेष्टा है, उसके परिणाम में अन्तस् तो परिवर्तित नहीं होता, वरन् इसके विपरीत व्यक्ति दो खंडों में विभाजित हो जाता है —— आधार के तल पर कुछ, और अन्तस् के तल पर कुछ। उसके भीतर एक की जगह दो व्यक्ति हो जाते हैं, और सतत् संघर्ष एवं आत्म-विग्रह उसके जीवन का भाग हो जाता है। वह जो नहीं चाहता, उसे ही करता है और जो चाहता है, उसे स्वयं ही रोक लेता है। यदि कहीं कोई नरक हो सकता है तो ऐसे व्यक्ति के मन में ही। समाज व्यक्तियों का समूह है। आज जब व्यक्तियों का जीवन इस प्रकार का हो गया है, तब समूचे समाज का जीवन यदि ऐसा हो जाय तो आश्चर्य की बात नहीं। इस अन्तर्द्वन्द से व्यष्टि और समष्टि रूप से जितना दुख, पीड़ा, संघर्ष, विप्लव की उत्पत्ति हुई है वह स्पष्ट है। इस तरह साधी गई सभ्यता के आधार पर शांति खो दी जा रही है। आज के तथाकथित सभ्य व्यक्ति और समाज से अधिक अशान्त व्यक्ति और समाज खोजना कठिन है। इसलिए इस प्रकार की सभ्यता जितनी बढ़ रही है, अशान्ति उतनी ही बढ़ती जा रही है। मानसिक रोगों, विक्षिप्तताओं, आत्म-हत्याओं की बढ़ती हुई। बाढ़ आकस्मिक और अकारण नहीं है। अन्तस् के विरोध में लाये गए आचरण में ही इस अशान्ति के बीच निहित है। यदि यही गति रही तो जिस आधिभौतिक सभ्यता के पूर्ण रूप का चिन्तन किया जा रहा है, यदि सभ्यता का वह पूर्ण रूप बन गया तो समस्त मानवता का विक्षिप्त हो जाना असम्भव नहीं है। यह सत्य कैसा दुर्भाग्यपूर्ण प्रतीत होता है। इस दृष्टि से देखने पर सभ्यता और विक्षिप्तता पर्यायवाची बन जाते हैं। यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि क्या सभ्य होने का और कोई मार्ग नहीं हो सकता? इसके विरोध में जो विकल्प प्रस्तावित हो रहा है वह भी इससे कम घातक नहीं है। संसार के अनेक विचारक अपने मानसिक स्वास्थ्य को बचाने के लिए असभ्य तक होने को तैयार हो गये हैं।

आज इस बात के समर्थक मौजूद हैं, और उनकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है, जो मानव के ऊपर के सारे भौतिक बन्धनों को, सभ्यता द्वारा आरोपित तथा-कथित नियमों को अलग कर मानव के मन को परिपूर्ण मुक्ति देने के पक्ष में हो गये हैं। इस प्रकार की मुक्ति अराजकता या स्वच्छन्दता बन जाय तो भी उनका मत है कि विक्षिप्त होने की अपेक्षा यह सुखद है। काम (सैक्स) के सम्बन्ध में निर्द्वन्द्वता का समर्थन अत्यन्त प्रभावशाली होता जा रहा है, सैकड़ों ऐसी संस्थाएं हैं-- नग्न क्लब, युवकों के पुरानी पीढ़ी के विरोध में आयोजित नये प्रचार, जैसे बीटनिक और फ्रायडवादियों के आन्दोलन, जो इस हवा को उत्पन्न करने में अथक श्रम कर रहे हैं। प्रारम्भ में लोग उनकी दृष्टि से चौंक पड़े थे, किन्तु क्रमशः उन्हें अधिकाधिक समर्थन मिल रहा है। यह स्वाभाविक भी है। यदि विक्षिप्त सभ्यता और असभ्यता में ही चुनाव करना हो तो दूसरे विकल्पको ही समर्थन मिलेगा। पहला विकल्प है मनुष्य की प्रकृति को दमन करने का तथा दूसरा विकल्प है मनुष्य की प्रकृति को पूर्ण स्वच्छन्दता देने का। किन्तु हमारी दृष्टि से दोनों ही घातक हैं, क्योंकि पहले विकल्प में मनुष्य विक्षिप्त होकर आत्म-घात कर लेगा, दूसरे में मानव मानव ही न रहा जायगा।

हम एक तीसरे विकल्प को प्रस्तावित करते हैं। हमारा जोर सभ्यता पर नहीं, संस्कृति पर है। हम मनुष्य को आचरण नहीं, अन्तस् देना चाहते हैं। हम उसके बहिरंग को नहीं, वरन् उसके हृदय को परिवर्तित करना चाहते हैं। हमारी आकांक्षा उसकी परिधि को सजाने की नहीं, उसके केन्द्र को परिवर्तित करने की है।

उसकी आत्मा जाग्रत हो तो उसका आचरण अपने – आप परिवर्तित हो जायगा। अन्तस् की ऊर्जा का आरोहण ही मानव को संस्कृत बनाता है और जो भीतर से सुसंस्कृत हो, उसका बाहर असभ्य होना असम्भव है। सभ्यता बाहर से थोपा हुआ आचरण है, संस्कृति भीतर से जागा हुआ अनुशासन है। अशुभ न किया जाय तो सभ्यता है, और अशुभ न हो सके तो संस्कृति है। अशुभ को रोका नहीं जाना चाहिए, अशुभ असम्भव हो जाना चाहिए। तब व्यक्ति में अन्तर्द्वन्द नहीं होता। तब उसके भीतर दो विरोधी स्वर नहीं होते। ऐसी दशा में जो संगीत उत्पन्न होता है, उसका नाम संस्कृति है।

संस्कृति हो तो सभ्यता अपने– आप आ जाती है। केन्द्र संभाल लिया जाय तो परिधि अपने– आप संभल जाती है। जो परिधि को प्राथमिकता देते और संभालते हैं, वे भूल में पड़ जाते हैं। उन्हीं के हाथों आज व्यष्टि और समष्टि

पीड़ित हैं। इस पीड़ा की प्रतिक्रिया में जो हो रहा है, वह कुएं से बचकर खाई में गिरने के जैसा है। मार्ग न कुआं है, न खाई। मार्ग तो मध्य में है। मार्ग न तो दमन है और न स्वच्छन्दता। मार्ग तो स्वतंत्रता और स्वतंत्र जगत में वही है, जो स्वयं को जानता है। जिसे स्वयं का ज्ञान नहीं है, उसे स्वतंत्रता कैसे मिलेगी। स्वयं को जानकर ही स्वतंत्रता उपलब्ध हो सकती है और उसप्रकार की स्वतंत्रता को ही हम संस्कृति कहते हैं।

साध्य और साधन

साध्य और साधन दोनों की पवित्रता आवश्यक है या नहीं, इस संबंध में सदा से ही विवाद उठते रहे हैं। कुछ विचारकों और चिंतकों का मत रहा है कि साध्य का पवित्र होना ही आवश्यक है और उस साध्य को प्राप्त करने के लिये कैसे भी साधनों का उपयोग किया जा सकता है।

व्यक्ति और समाज में, व्यक्ति और समाज के विकास और उत्क्रांति के संदर्भ में, इस विषय पर विचार होना चाहिए। साध्य और साधन चाहे भिन्न प्रतीत होते हों, किन्तु यथार्थ में ये भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः साधन ही विकसित होकर साध्य बन जाता है। जैसे गन्तव्य स्थान और मार्ग चाहे भिन्न दिखाई देते हों, किन्तु यथार्थ में गन्तव्य वही है, जहां मार्ग पूर्ण होता है। गन्तव्य मार्ग की ही परम परिणति है। इसलिए साध्य और साधन को अलग करके सोचना आरम्भ से ही भ्रान्ति में पड़ जाना होगा। जो दोनों को भिन्न माननेवाले हैं, वे ही यह मानते हैं कि अशुभ साधन भी शुभ साध्य तक ले जा सकते हैं। यह बात सर्वथा अयुक्तिपूर्ण है। यह बात तो ऐसी ही है, जैसे कोई विष बीज बोकर अमृत फल की कामना करे। अशुभ या अपवित्र साधन अशुभ या अपवित्र साध्य पर ही ले जायेंगे। विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि अंतिम चरण सूक्ष्म रूप से प्रथम चरण में ही छिपा रहता है। साध्य के पवित्र होने की चर्चा साधन के अपवित्र होने को छिपा भले ही ले, लेकिन इससे साध्य पवित्र नहीं हो जायगा। अशुभ बहुत शक्तिहीन है। उसके पास स्वयं के पैर खड़े होने को कमी नहीं होते। इन पैरोंको वह सदा शुभ से उधार मांगता है। इसीलिए असत्य को छलने के लिए सत्य की मुखाकृति बनानी होती है। अहंकार को चलने के लिए विनय के वस्त्र पहनने पड़ते हैं। युद्ध अपनी प्रामाणिकता शांति के साध्य में खोजते हैं। अशुभ सदा ही शुभ का नाम लेकर चलता आया है और इस विभ्रम को पैदा करने का उपाय यही है कि पवित्र साध्य की चर्चा में कोई

कहे कि अपवित्र साधनों से उसे पाया जायगा। इस भांति अशुभ साधनों की प्रामाणिकता शुभ साध्य में खोज ली जाती है। इससे एक बात और होती है, असत्य अर्द्धसत्य के रूप में दीखने लगता है। अर्द्धसत्य का सत्य के रूप में दीखना असत्य के यथार्थ रूप में दीखने से कहीं भयानक है, क्योंकि असत्य का तो विरोध किया जा सकता है, पर अर्द्धसत्य का नहीं। यदि अर्द्धसत्य का विरोध होता है तो समाज में प्रायः दो दल बन जाते हैं। एक उसका विरोधी और दूसरा उसका समर्थक। यह स्थिति ऐसे संघर्ष को उत्पन्न करती है, जिसका परिणाम विप्लव और विनाशकारी युद्धों में होता है। संक्षेप में, पवित्र साध्य के लिए अपवित्र साधनों के उपयोग से ही इस अर्धसत्य का प्रादुर्भाव होता है, जो असत्य से भी कहीं भयंकर है।

यह स्मरणीय है कि वैर कभी मैत्री उत्पन्न नहीं कर सकता, घृणा कभी प्रेम को जन्म नहीं देती और हिंसा से अहिंसा तक पहुंचने का कोई मार्ग नहीं है।

यह अन्तर्दृष्टि मानव के संबंध में खोजे गये सत्यों में सबसे बडे सत्य में एक है। इसके ही आधार पर पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधनों का होना अनिवार्य है। वस्तुतः साधन ही सूचना दे देते हैं कि साध्य कैसा होगा। इसलिए साध्य उतना विचारणीय नहीं, जितना साधन है।

मानवीय संबंधों पर जितना भी चिंतन है, उसके प्रधानतया दो ही रूप हैं। एक रूप है बुराईका प्रत्युत्तर बुराई। यह पाशविक प्रवृत्ति है। इसमें यथार्थ यर्थाथा में कुछ भी मानवीय नहीं। इसका परिणाम भी न तो किसी समस्या का समाधान है और न मनुष्य के उदात्त तत्त्वों के विकास का माध्यम इस प्रवृत्ति के दोहरे उपद्रव हैं। एक तो यह कि समस्या वहीं–की–वहीं बनी रहती है। दूसरे, मनुष्य का पतन हो जाता है। दूसरे शब्दों में समस्या सुलझती नहीं, उल्टे और उलझ जाती है, क्योंकि क्रोध के उत्तर में क्रोध की उत्पत्ति होती है, पुनः क्रोध के उत्तर में क्रोध और इसका अंत कहां होगा, यह कहना कठिन हो जाता है। अंत विनाश में ही होता है और विनाश किसी समस्या का समाधान उसी अर्थ में है, जिस अर्थ में रोग को समाप्त करने के लिए रोगी को ही समाप्त कर देना। यह प्रवृत्ति अज्ञान और अधर्म का मूलाधार है।

उपर्युक्त प्रवृत्ति की उलझन एवं विकृति को अनुभव करके जिन विचारकों और चिंतकों ने मानव–मन को समझा है, उन्होंने बड़े गहरे नियम का प्रतिपादन किया है। ईसा ने कहा था––"पुराना नियम है कि जो तुम्हारी एक आंख फोड़े, तुम उसकी दोनों आंखें फोड़ दो, जो तुम्हें ईंट से मारे, उसे पत्थर से

जवाब दो।" लेकिन मैं तुमसे कहता हूं, जो तुम्हारे एक गाल पर चांटा मारे, तुम अपना दूसरा गाल उसके सामने कर दो." यह बात सुनने में चाहे विचित्र मालूम होती हो, लेकिन बहुत कम बातें इतनी सत्य हैं, जो इस सत्य के ऊपर रखी जा सकें। यह इसलिए कि क्रोध का उत्तर मात्र अक्रोध में है और घृणा का उत्तर प्रेम के सिवा कुछ भी नहीं। यह वह समाधान है, जो दोहरा समाधान कहा जा सकता है। समस्या समाप्त होती है और जो इस समाधान का प्रयोग करता है, वह पवित्र होकर पूर्ण की ओर विकसित होता है। इस भांति वह मार्ग में पड़े हुए प्रतिकूल पत्थरों को भी अपने विकास के सोपान बना लेता है। तब इस संसार में प्रत्येक परिस्थिति उसकी सहयोगी और सहचरी बन जाती है। वह प्रतिकूल–से प्रतिकूल अनुभवों में और ऐसे मार्गों पर जहां पतन की सहज संभावनायें रहती हैं, उपर्युक्त सूत्र का अनुगमन कर अपने को सुरक्षित बना लेता है।

ईसा ने तो यहां तक कहा है कि बुराई का प्रतिरोध न करो। यद्यपि उनका यह सूत्र बहुत विवाद–ग्रस्त रहा है, तथापि जो इस सूत्र की आत्मा को समझते है–उनके लिए स्पष्ट हो जाता है कि इसका अर्थ यह है कि बुराई का प्रतिरोध बुराई से न करो। प्रतिरोध का एक और मार्ग भी है, जिसे हम प्रेम से प्रतिरोध करना कहेंगे, यद्यपि प्रेम की प्रगाढ़ता के कारण उसे प्रतिरोध कहना भी कठिन हो जाता है। इसीलिए ईसा ने कहा कि बुराईका प्रतिरोध ही न करो, क्योंकि प्रेम प्रतिरोध कहां है वह तो दूसरे का हृदय––परिवर्तन है।

ऐसे प्रेम के प्रकाश में देखने पर साधन पवित्र और शुभ हो जाते हैं। जो घृणा से सोचते हैं, वे ही केवल अपवित्र साधन चुन सकते हैं। दृष्टांत के लिए आज सारे विश्व में समाजवाद की चर्चा है। जो पूंजीपतियों के विरोध और घृणा में समाजवाद की कल्पना करते हैं, वे स्वभावतः अपवित्र और अशुभ साधनों को चुन सकते हैं, किन्तु जो दरिद्र और दीनहीनों के प्रेम से प्रेरित होकर समाजवाद की कल्पना करते हैं, अपरिहार्य रूप से उनके साधन पवित्र और शुभ होंगे ही।

साधन शुभ हों तो साध्य के शिव होने का पूर्ण निर्धारण हो जाता है।

व्यक्तित्व के जन्म की आधारशिला : स्व.

आधुनिक युग की सबसे बड़ी समस्या यह है कि व्यक्ति समाज के लिये है अथवा समाज से स्वतंत्र भी उसका कोई अस्तित्व है ?

हम देखते हैं कि इस युग में व्यक्ति का मूल्य निरंतर गिर रहा है। समाज और राज्य प्रभावशाली होते जा रहे हैं। यदि यही होता रहा तो अंततः ऐसा

समय आ सकता है जब व्यक्ति समूह यंत्र का एक पुर्जा मात्र होकर रह जाये। उस घड़ी से अधिक दुर्भाग्य की शायद कोई घड़ी न होगी, क्योंकि जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ है, उस सबका जन्म यथार्थतः व्यक्ति में होता है और उसके जन्म की आधारशिला व्यक्ति का स्वातंत्र्य है। व्यक्ति जितना स्वतंत्र होगा और सामाजिक तंत्र के उस पर जितने कम नियंत्रण होंगे, उतनी ही उसकी चेतना अधिक सृजनात्मक होगी। सृजन के लिये स्वतंत्रता अपरिहार्य है। किन्तु आज राज्य और समाज व्यक्ति को उस सीमा तक परतंत्र कर देना चाहते हैं, जहां उसे व्यक्ति कहे जाने के लिए कुछ शेष न रह जाये। व्यक्ति के इस स्वातंत्र्य हरण का जब जब प्रयत्न हुआ है, इस प्रयत्न के विरोध में विचारकों की आवाज भी सदा उठती रही है। आज की सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि आज के अधिकांश विचारक भी व्यक्ति को गौण और समाज तथा राज्य को प्रमुख मान रहे हैं। इन विचारों के समर्थन में लगातार प्रचार हो रहा है। उसका असर भी पड़ा है। व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य, राज्य की अधिनायकता में बाधा है, यह कहा जाता है। राज्य का अधिक से अधिक शक्ति संपन्न होते जाना व्यक्ति की मृत्यु सिद्ध होगा। हम इस मृत्यु की ओर क्रमशः बढ रहे हैं। अणुशस्त्रों से भी उतना डर नहीं है, जितनी इस अधिनायकता से। अणुशस्त्रों से शरीर ही नष्ट हो सकता है, परंतु राज्य की अधिनायकता मनुष्य की आत्मा की भी मृत्यु बन जायेगी। और आत्मा खो जाने से मर जाना ही श्रेष्ठ है।

व्यक्ति की यह परतंत्रता हम स्वयं अपने हाथों से ही ला रहे हैं। जब से यह भावना पैदा हुई कि परिस्थितियां ही सब कुछ हैं, तब से ही व्यक्ति निर्बल हो गया है। एक पुराना मतभेद चला आ रहा है कि समय व्यक्ति का निर्माण करता है या व्यक्ति समय का। हम उनसे सहमत हैं, जो यह मानते हैं कि व्यक्ति ही समय और परिस्थितियों का निर्माण करता है। आज ऐसी धारणा घर कर गई है कि व्यक्ति परिस्थितियों के विरोध में उनसे ऊपर उठने में ही असमर्थ है। इससे अधिक घातक और कोई विचार संभव नहीं। भौतिकवाद की मूल आधारशिला यही है। ईश्वर और आत्मा का निषेध नहीं वरन् बाह्य परिस्थितियों को सर्वशक्तिशाली मान लेना ही भौतिकवाद की आत्मा है। यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करें और फिर भी भौतिकवादी न हो। इसलिये ईश्वर की अस्वीकृति भौतिकवाद का केन्द्रबिन्दु नहीं है। उसका केन्द्र तो इस आस्था में है कि मनुष्य किसी भी स्थिति में बाह्य भौतिक परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठ सकता। वह परिस्थितियों का सृष्टा नहीं

है, वरन् उनके हाथ में केवल एक कठपुतली है। उसमें कोई ऐसा तत्व ही नहीं है, जो परिस्थितियों का अतिक्रमण कर सके। ठीक प्रकार से समझने का प्रयत्न किया जाये तो मनुष्य की आत्मा का यही निषेध है। जब से यह निषेध महत्वपूर्ण हुआ है, तबसे व्यक्ति शून्य हो गया है। वह भी अब एक यंत्र है और यंत्रों के लिए स्वतंत्रता मांगना व्यर्थ की बात है। यंत्रों को तो केवल सुविधायें चाहिये, स्वतंत्रता का क्या सवाल ? और इसलिये हम निरंतर स्वतंत्रता को खोकर सुविधाओं की मांग किये जा रहे हैं। यह मांग दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही है। सुकरात ने कहा था: एक संतुष्ट सुअर होने की अपेक्षा असंतुष्ट सुकरात होना बेहतर है। आज के अधिकांश कहे जाने वाले विचारकों से हम ऐसी बात पूछें तो वे इसका उत्तर उल्टा कर देंगे। वे कहेंगे: एक असंतुष्ट सुकरात होने के बजाय एक संतुष्ट सुअर होना श्रेष्ठतर है। यही हमारी सदी का नारा है। सुकरात के वचन को उलट देने से हमारी आज की पूरी भावदशा प्रगट हो जाती है। परंतु इससे अधिक अगौरवपूर्ण क्या और कुछ हो सकता है? इस स्थिति को हमारे ऊपर किसी ने लादा नहीं है। हमने स्वयं ही निर्मित किया है। पहले जब कभी कोई विजेता अथवा सर्वेसर्वा या आततायी अपने आधिपत्य के लिये व्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट करता था तब विचारक उसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाते थे। आज जब अधिकांश विचारक ही व्यक्ति को सामाजिक यंत्र का एक पुर्जा प्रतिपादित कर रहे हैं, तब परिस्थिति सर्वथा भिन्न हो गई है। परंतु निराशा के इस अंधकार में आशा की एक ही किरण है कि इस परिस्थिति को किसी विजेता, सर्वे सर्वा या आततायी ने न लादकर आज के अधिकांश विचारकों ने लादा है। दूसरे शब्दों में हमने ही इसे लादा है और यदि हमने चाहा तो हम इसे नष्ट भी कर सकते हैं।

इसे नष्ट करना हो तो हमें मनुष्य को परिस्थितियों पर विजय पाना सिखाना होगा। जब कोई व्यक्ति किसी बाह्य विपरीत परिस्थितियों में भी अपने को संयमित और संतुलित पाता है तथा अनुभव करता है कि उसके भीतर कुछ है जो कि परिस्थिति से अस्पर्शित रह गया है तभी पहली बार आत्मा का अनुभव होता है। यह अनुभव ही उसे व्यक्ति बनाता है। शरीर सुविधा मांगता है और आत्मा स्वतंत्रता चाहती है। जिन्होंने मनुष्य को केवल शरीर जाना है, उन्होंने बहुत सुविधायें जुटाई हैं और जिन्होंने मनुष्य को आत्मा माना है, उन्होंने मुक्ति और मोक्ष की खोज की है। ऐसे जीवनमुक्त एक नरेश को विदेह का पद प्राप्त हुआ था और उन्होंने घोषणा की थी कि यदि उनकी एक भुजा में कोई चंदन का लेप करे और दूसरी भुजा में आग लगाये तो उन्हें किसी भेद का अनुभव न होगा।

इस खोज को पुनः मनुष्य के भीतर प्रारंभ करना होगा। अध्यात्म की दिशा में उसमें प्यास की उत्पत्ति करनी होगी। उसे उस असंतोष से भरना होगा जो कि दिव्यता की ओर ले जाता है। इस संसार में दो प्रकार के असंतोष हैं : एक जगत् से और एक स्वयं से। जो जगत् से असंतुष्ट होता है वह सुविधायें खोजता है और जो स्वयं से असंतुष्ट होता है वह स्वतंत्रता और सत्य की खोज करता है। सत्य इसलिये कि अंततः सत्य की उपलब्धि ही पूर्ण स्वतंत्रता बन सकती है। ईसा ने कहा है: "तुम सत्य को खोजो और सत्य तुम्हें स्वतंत्र कर देगा।" जो स्वयं के सत्य को जान लेता है, वह परम शक्ति का अनुभव करता है, जिसपर कोई बंधन नहीं है। ऐसे ही महाजनों ने समय का निर्माण किया है। समय तो महान् जनों का नहीं। तुच्छ व्यक्तियों का निर्माण करता है।

व्यक्ति को राज्य के हाथों से बचाने के लिये उसकी चेतना को सत्य के आरोहण के लिये तैयार करना होगा। वह जैसा है, उसकी कुरूपता उसके सामने प्रगट करनी होगी ताकि उसकी आंखें उस ओर उठ सकें जो कि वह हो सकता है।

जीवन और लक्ष्य :

जीवन किस प्रकार जिया जाये, यह प्रश्न मानव जीवन के संबंध में ही उठता है, अन्य किसी प्राणी के जीवन के संबंध में नहीं, क्योंकि अन्य जीवों में चेतना होते हुये भी मनुष्य के सिवा अन्य प्राणियों का जीवन आहार, निद्रा और मैथुन तक ही सीमित रहता है।

मनुष्य का जीवन भी दो प्रकार से जिया जा सकता है.....एक बिना किसी लक्ष्य के और दूसरा किसी विशिष्ट लक्ष्य को सामने रखकर। बिना किसी लक्ष्य के मानव जीवन भी जिया जा सकता है। पर उस प्रकार के मानव जीवन में भी कोई कृतार्थता का बोध नहीं होगा। ज्ञानशक्ति प्रकृति से मानव को जिस प्रकार की मिली है, अन्य किसी जीवधारी को नहीं, परंतु इस शक्ति के बावजूद मनुष्य के लक्ष्यहीन जीवन में अनुभूतियां क्षणिक होंगी, समग्रता और अखंडता का ऐसे जीवन में अनुभव नहीं होगा। पूरे जीवन का क्या अभिप्राय था, यह अप्रगट ही रह जायेगा। इस प्रकार के जिये गये जीवन में केवल इंद्रियां ही भाग लेंगी। इंद्रियों के अनुभव की क्षमता क्षणिक और आणुविक ही होती है। मेधा रहते हुये भी इंद्रियों के माध्यम से हम जीवन की परिधि को स्पर्श मात्र कर पाते हैं। केन्द्र अस्पर्शित ही रह जाता है और अंत में ज्ञात होता है कि मनुष्य होते हुये भी

हम व्यर्थ ही जिये और हमारी मुट्ठियां खाली ही रह गईं। ऐसे लक्ष्यहीन मनुष्य की प्रसुप्त संभावनायें न तो वास्तविक बन पाती हैं और न उनकी परितृप्ति चरम शिखरों को पहुंच पाती है, क्योंकि जो बिना लक्ष्य के जीता है वह चलता तो अवश्य है, पर किसी विशिष्ट मंजिल पर पहुंच नहीं पाता।

जीवन की गहराई और केन्द्रीयता किसी लक्ष्य के प्रति समर्पित होने से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि लक्ष्य के आधार पर ही चलने से जीवन खंड खंड नहीं रह जाता। वरन् एक अखंडता को उपलब्ध करता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक—कहीं पहुंचने की अभीप्सा उसकी सारी शक्तियों को इकट्ठा कर देती है। तब वह उसके माध्यम से ही अपने भीतर अराजकता के स्थान पर व्यक्तित्व के जन्म को होता हुआ अनुभव करता है। लक्ष्यहीन जीवन अराजक जीवन है। लक्ष्य व्यक्तित्व देता है। व्यक्तित्व का अर्थ है सारी शक्तियों का केन्द्रित होना और समस्त प्रवाहों का एक दिशा का अनुसरण करना। भीतर लक्ष्य के रूप में एक केन्द्र हो और बाहर लक्ष्य को पहुंचने की एक दिशा हो, तभी व्यक्तित्व पैदा होता है। इसके बिना मानव को निसर्ग से जो एक विशिष्ट प्रकार की ज्ञान-शक्ति मिलती है, उसके रहते हुये भी चलना एक अंधा प्रयास है। मानव जीवन का पथ भी अंधकारपूर्ण है। परंतु जिस व्यक्ति के भीतर लक्ष्य रूपी दीपक न हो तो उसकी समग्र गति अंततः शक्ति और समय का अपव्यय ही सिद्ध होती है। ऐसा मनुष्य कोल्हू के बैल की भांति घूमता हुआ पाया जाता है। उन थोडे से अनुभवों की पुनरावृत्ति उसके जीवन में बार बार होती है। वे अनुभव सेक्स के हों, पद के हों, प्रतिष्ठा के हों या अन्य ऐंद्रिक अनुभूतियों के हों। लक्ष्य रहित जीवन इसी प्रकार के अनुभवों के आसपास घूमता हुआ बीतता है। उसमें चैतन्य के कारण गति तो होती है, लेकिन लक्ष्यवाले जीवन में जो प्रगति होती है वह नहीं। चलना तो होता है, किन्तु विकास नहीं होता। ऐसे जीवन में अंतःचेतना न तो परिपक्व बन पाती है और न परितृप्त, क्योंकि लक्ष्य वाले जीवन में ही अनुभूतियों की परिपक्वता परितृप्ति लाती है।

इसलिये लक्ष्य निश्चित न करना जीवन के लिये सबसे बड़ा पाप है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो शेष अधिकांश पाप प्रायः इस लक्ष्यहीनता से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि लक्ष्यहीन व्यक्ति के लिये क्या करने योग्य है और क्या नहीं, इसमें कोई भेद नहीं रह जाता। जो व्यक्ति किसी मंजिल पर पहुंचना चाहता है वही अपने लक्ष्य के अनुसार जीवन को चलाता है, फिर उसका चुना हुआ मार्ग सही हो या गलत। लेकिन जो कहीं पहुंचना ही नहीं चाहता, उसके लिये मार्ग

सही या गलत होने का कोई सवाल ही नहीं उठता, उसके लिये रास्ते एक से हो जाते हैं। उनमें चुनाव का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। चुनाव तो तभी हो पाता है जब लक्ष्य स्पष्ट हो। जब कोई मंजिल नहीं होती तब मंजिल के बिना व्यक्ति का पथभ्रष्ट होना, या भटक जाना स्वाभाविक है। समुद्र में किसी गंतव्य पर पहुंचने का ध्यान निश्चित किये बिना यदि कोई नौकायें निकलती हैं तो हम उन नौकाओं के नाविकों को पागल कहेंगे। किन्तु जीवन सागर पर अधिकांश लोग बिना किसी लक्ष्य के ही जीवन नौकायें चलाते दीख पड़ते हैं।

जीवन के लक्ष्य की खोज व्यक्ति के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है। लक्ष्य गलत भी खोजे जा सकते हैं और तब लक्ष्यहीन जीवन से भी ऐसे लक्ष्यवाले जीवन की अधिक दुर्गति हो जाती है, क्योंकि लक्ष्यहीन व्यक्ति कभी भूले भटके ठीक तटों से भी टकरा सकता है, किन्तु जिसने गलत लक्ष्य चुन लिया है, उसके लिये ऐसी संभावना भी शून्य हो जाती है। वह तो अपने ही हाथों जीवन के अंधकार को और बढ़ा देता है। वह जानबूझकर प्रकाश की ओर पीठ कर लेता है। इसलिये लक्ष्य चुनना बड़ा भारी उत्तरदायित्व है, व्यष्टि का अपने प्रति और समष्टि के प्रति। सच तो यह है कि जीवन का सारा उत्तरदायित्व अपने ही प्रति होता है, क्योंकि जीवन को नष्ट करने या जीवन को ठीक दिशा में निर्मित करने में हम समर्थ हैं। इसलिये हमारा लक्ष्य का चुनाव – जीवन का चुनाव और जीवन के प्रत्येक चरण का चुनाव है। इस संबंध में हमारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है, इससे हम आंख नहीं मूंद सकते।

जीवन के लक्ष्य का निर्णय इस बोध पर निर्भर करता है कि हम जीवन और मृत्यु की शक्तियों को पहचानें। जो भी मरणधर्मा और विनाशशील है, वह जीवन का सद्लक्ष्य नहीं हो सकता। उसे खोजना चाहिये जो अमृत है। उसकी एक फीकी सी किरण मिल जाये तो भी उसके सहारे हम अमृत के मूल स्रोत तक पहुंच सकते हैं।

धर्म और संप्रदाय :

धर्म और सांप्रदायिकता में बड़ा भारी भेद है, इस तरफ बहुत कम ध्यान जाता है और प्रायः धर्म और सम्प्रदाय दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। यह भारी भूल है।

धर्म सत्य को प्राप्त करने का तथा उस दिशा में जीवन को चलाने का साधन स्रोत है। वह परम सत्य की अनुभूति भी है और उसे पाने का माध्यम भी। इस प्रकार वह साध्य भी है और साधन भी। वस्तुतः तो जो अंतिम चरण में

उपलब्ध होता है, वह प्रथम चरण में ही अंतर्निहित होता है। इसीलिये धर्म आरंभ है और अंत भी। किन्तु ऐसा धर्म नितान्त वैयक्तिक और निजी अनुभूति है, जो स्वयं में ही साधा और स्वयं में ही पाया जाता है। अनुभूति का क्षेत्र स्वभावतः वैयक्तिक है। समूह को एक साथ कोई अनुभूति नहीं होती, क्योंकि समूह के पास कोई इकट्ठी चेतना या आत्मा नहीं है। चेतना प्रत्येक व्यक्ति के पास अपनी अपनी है, सत्य और सौन्दर्य की प्रतीतियां भी निजी होती हैं। किन्तु धर्म जब समाज और परंपरा का रूप भी ले लेता है उस समय वह संप्रदाय बन जाता है। इस प्रकार सत्य तो एक है, धर्म भी एक है, किन्तु उसे पाने के अनेक मार्गों के कारण उसके संप्रदाय हो जाते हैं। ये संप्रदाय न केवल अनेक हैं, वरन् आपस में विरोधी भी हो जाते हैं। यदि किसी वृत्त की परिधि से कुछ व्यक्ति अलग अलग बिन्दुओं पर केन्द्र की ओर यात्रा आरंभ करें तो यात्रा के अंत में तो वे एक ही स्थान पर पहुंचेंगे परंतु आरंभ में अलग अलग जाते मालूम होंगे। उन बिन्दुओं से चलनेवाला प्रत्येक व्यक्ति यही सोचेगा कि मैं जिस केन्द्र पर जा रहा हूं, दूसरा उस केन्द्र पर नहीं जा रहा है। संसार वृत की परिधि है और सत्य परिधि का केन्द्र। इसीलिये जितने व्यक्ति हैं, उतने भी संप्रदाय हो सकते हैं। किन्तु सत्य तब भी एक ही रहेगा। संप्रदाय वे हैं जहां से हम चलते हैं और धर्म वह है जहां हम पहुंचते हैं। जहां यात्रा में पहुंचने वाला केन्द्र प्रमुख न होकर प्रस्थान करनेवाला बिन्दु प्रमुख हो जाता है, वहां सांप्रदायिकता पैदा हो जाती है। संप्रदाय का होना बुरा नहीं, किन्तु सांप्रदायिकता का होना बुरा है। सांप्रदायिकता में धर्म तो विलीन हो जाता है और संप्रदाय मात्र ही शेष रह जाता है। यह उस प्रकार है, जैसे आत्मा तो निकल जाये और शरीर ढोया जाय। मार्गों पर गन्तव्य को बतानेवाले चिन्ह लगे होते हैं। जो यात्री इन चिन्हों को गन्तव्य स्थान समझ बैठे उनके संबंध में हम क्या कहेंगे। धर्म को छोड़कर जो संप्रदाय को पकड लेते हैं उनकी भी गति वैसी ही है। इससे जडता और मतान्धता पैदा होती है। ऐसी सांप्रदायिक दृष्टि के कारण संप्रदाय और संप्रदाय के बीच कलह और विग्रह खड़ा होता है। जो धर्म शांति का मुख्य साधन है, उस धर्म के नाम पर संसार के इतिहास में कितनी अशांति हुई है और इस अशांति में कितना रक्तपात? पश्चिम में तो 'क्रूसेड' नाम से न जाने कितने युद्ध लड़े गये। एक युद्ध में तो नन्हें मुन्ने बच्चों की सेना थी। ऐसी सेना लड़ती भी क्या? इस सेना के बच्चों का धर्म के नाम पर बलिदान हुआ। मनुष्य का इतिहास इस प्रकार की अत्यंत दूषित और हृदय को हिलानेवाली घटनाओं से

भरा पड़ा है और यह सब हुआ है धर्म के नाम पर। जिस धर्म का काम–शांति प्रेम और अहिन्सा की स्थापना था, उसके नाम पर कितना कलह, कितनी हिन्सा और कितनी घृणा का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु धर्म के नाम पर जो भी कलंक के चिन्ह दीख पड़ते हैं, उन्हें सांप्रदायिकों ने लगाया है। सच्चे धर्म के पराभव में मूल हाथ उन्हीं का है। उनके कारण ही विचारक और विवेकशील लोग धर्म के विरुद्ध हो गये। उनके ही कारण राज्य और शिक्षा धर्मनिरपेक्ष हो, इस पक्ष में संसार के अधिकतम विचारवान लोगों का मत है। सांप्रदायिकता की इस दौड़ ने धर्म की प्रतिष्ठा को धूमिल किया है और उसके अंधे प्रचार तथा आग्रह के कारण मनुष्य के चित्त को मुक्त होने में नहीं, वरन् और भी अधिक बंधन में पड़ जाने के लिये अवसर मिला है। जो प्रस्थान बिन्दु थे, वे कारागृह हो गये हैं। मुक्ति के उपायों के बंधन की जंजीरें बन जाने की यह दुर्घटना कैसी आश्चर्यजनक है!

सच्चे धर्म पर जिनकी आंतरिक दृष्टि है, वे यदि किसी संप्रदाय में हों तो भी उस संप्रदाय के नहीं हो पाते। जैसे यह कहा गया है कि जो शासन जितना कम शासन करता है, वह उतना ही श्रेष्ठ शासन है, उसी प्रकार जो संप्रदाय जितना कम सांप्रदायिक हो, उतना ही श्रेष्ठ संप्रदाय है। संप्रदाय की मान्यता जब शून्य होती है तो धर्म पर दृष्टि सर्वरूपेण स्थिर हो जाती है। परंतु जो संप्रदाय पर रूक जाते हैं, वे धर्म पर कभी नहीं पहुंच पाते। सीढियां चढ़ने को हैं, 'रूक जाने को नहीं, और मार्ग पहुंचने को है, पकड़ रखने के लिये नहीं। बुद्ध ने कहा है" "नावों से नदियों को पार करो, किन्तु उनको सिर पर लेकर न चलो।" च्जांगतजै ने कहा है, "मित्रो, जालों से मछलियों को पकडो, जाल लिये क्यों बैठे हो?" जिनकी बुद्धि सांप्रदायिक हो गई है, वे नावों को सिर पर लेकर चलते हैं और जालों से मछलियां नहीं पकडते, वरन् हमारे जाल दूसरों से श्रेष्ठ 'यह सिद्ध करने में जीवन व्यतीत करते हैं। धर्म तो बेडा है, संप्रदाय बोझ बन जाता है।

सांप्रदायिक भावना जितनी अधिक होगी धर्म के स्रोत उतने ही सूख जाते है और तब धर्म के नाम पर संगठित हुये संप्रदाय सामाजिक और राजनैतिक रूप ले लेते हैं। उस समय सत्य की साधना से कोई संबंध नहीं रह जाता। उनकी चेष्टा को हम इसलिये राजनैतिक कह रहे हैं क्योंकि तब उनकी चिन्ता शक्ति और अधिक शक्ति पाने की रह जाती है। संख्या को बढाना ही उनका उद्देश्य रह जाता है, क्योंकि संख्या से शक्ति आती है। स्वभावतः वे ऐसे ही

दूसरे शक्तिलोलुप संगठनों के विरोध में पड़ जाते हैं। तब प्रेम के स्थान पर घृणा और अहिन्सा की जगह हिंसा ही उनसे होती देखी जाती है। ऐसे संप्रदायों ने ही, भौतिकवादी और अधर्मियों ने नहीं, धर्म को डुबाया है। यदि धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करना हो तो सांप्रदायवादियों से उसे मुक्ति दिलवानी आवश्यक है। धर्म के बचाव का और कोई मार्ग नहीं है और बिना धर्म के बचाव के मनुष्य नहीं बच सकता है।

व्यक्ति–अणु की खोज और परिवर्तन :

कार्ल मार्क्स के कैपीटल ग्रंथ के प्रकाशित होने के बाद और उसके पश्चात् रूस की क्रांति के उपरांत व्यष्टि को गौणता और समष्टि को प्रधानता मिल गई है। मार्क्स के पूर्व भी समाजवादी विचारक न हुये हों, यह बात नहीं, और उन्होंने भी व्यक्ति की अपेक्षा समाज को ही प्रमुखता दी थी, परंतु इस संबंध में संसार पर जैसा प्रभाव मार्क्स का और मार्क्स के बाद रूसी क्रांति का पड़ा, उतना उसके पूर्व नहीं पड़ा था।

परन्तु न जाने क्यों, आज हम यह भूल गये हैं कि विश्व में विराट तल पर जो कुछ भी घटित होता है, उसकी बीजसंभावनायें सदा व्यक्ति में ही छिपी रहती हैं। वे संभावनायें इतनी सूक्ष्म हो सकती हैं कि उनका प्रत्यक्ष परिदर्शन हमें चाहे न भी होता हो, तब भी यह असंभव है, जो समष्टि में प्रकट होता हो, वह आधार रूप से व्यष्टि में न हो। समाज के पास यथार्थ में न तो कोई चेतना है और न कोई वासना। चेतना भी व्यक्ति के पास ही है और वासना भी। इसे हम सामूहिक चेतना कहें या सामूहिक वासना, वह भी व्यक्तियों की चेतनाओं और वासनाओं का जोड़ होती है। समाज तो केवल जोड़ है। इसलिये जो भी शुभ या अशुभ समाज में घटित होता हो, उसके मूल कारण व्यक्ति में ही खोजने होंगे। जो सीधा समाज पर ही विचार करने लगते हैं, उनकी विचारपद्धति कितनी ही तर्कसंगत क्यों न प्रतीत होती हो, वे आधारभूत भूल कर जाते हैं, क्योंकि वे समाज से व्यक्ति की ओर सोचते हैं, जबकि व्यक्ति से समाज की ओर सोचा जाना चाहिये। सम्यक् चिन्तन की दिशा सदा ही मूल कारण से प्रारंभ होनी चाहिये। व्यक्ति ही इकाई है और यदि हम उसका ही पूर्ण विश्लेषण कर सकें तो समाज और विश्व की सारी समस्याओं का समाधान भी मिल जायेगा। आजकल राजनैतिज्ञ राज्य के तल पर, अर्थशास्त्री अर्थ के तल पर और समाजशास्त्री समाज को ध्यान में रखकर समस्याओं का समाधान

खोजते हैं। व्यक्ति को बिल्कुल ही भुला दिया गया है। यह ऐसा ही है जैसे कोई सागर के संबंध में गवेषणा करे और बूंद को भूल जाये। जगत् के सारे जल का रहस्य बूंद में छिपा हुआ है। बूंद को भुलाकर जल के सारे संबंध का सारा चिन्तन असत्य होगा।

इस काल में वैज्ञानिक क्यों सफल हुये हैं? उन्होंने प्रत्येक पदार्थ के संबंध में खोज की है। इस संबंध में कोई सामूहिक खोज के पीछे वे नहीं पड़े। आज विज्ञान की सारी सफलता की जड़ उसके आणविक विश्लेषण में है। उसने प्रकृति के रहस्य को जानने के लिये क्षुद्रतम अणु को पकड़ा है। यदि विज्ञान अंतिम परमाणु को जानने में सफल हो गया तो प्रकृति के सारे रहस्य खुल जायेंगे। यह चाहे कुछ विरोधाभास प्रतीत होता हो, किन्तु संपूर्ण रूप से सत्य है। जो अत्यंत क्षुद्र को समझ लेता है, अनंत के द्वार उसके लिये खुल जाते हैं। वैज्ञानिक पदार्थ के संबंध में जो भूल नहीं करते, विचारक–मनुष्य के संबंध में वही भूल कर रहे हैं। यही कारण है कि जहां विज्ञान पदार्थ की समस्यायों को सुलझाने में सफल हुआ, वहीं तथाकथित विचारक मनुष्य की समस्याओं को सुलझाने में नितांत असफल। पदार्थ संबंधी समस्याएं तो सुलझ गई हैं और सुलझती जा रही हैं, परंतु मानव संबंधी समस्यायें उल्टी उलझी हैं और अधिकाधिक उलझती जा रही हैं। पिन्ड में ही ब्रह्मान्ड छिपा है, यह मनुष्य के संबंध में समझाने में हम असमर्थ हो रहे हैं। जो आणविक विश्लेषण पदार्थ को समझने में सफल हुआ, उस प्रकार का विश्लेषण मानव के संबंध में हम नहीं पा रहे हैं। यही तथ्य मानवीय समस्याओं के असमाधान का मूल आधार है।

धर्म ने मनुष्य के संबंध में आणुविक चिन्तन किया है। वस्तुतः धर्म का कोई संबंध समाज से है ही नहीं। उसका केन्द्र तो व्यक्ति है। व्यक्ति के परिवर्तन और दिव्यीकरण से जागतिक चेतना को बदलने का उसका विचार है। धर्म उसी प्रकार नितान्त वैयक्तिक है, जैसे विज्ञान आणुविक। व्यक्ति समाज का अणु है। इस अणु में ही सारी संभावनायें हैं . . . घृणा की भी और प्रेम की भी, क्रोध की भी और शांति की भी, शोषण की भी और सेवा की भी। मनुष्य स्व विरोधी दिशाओं में विभाजित है। उसके भीतर दोहरे मार्ग हैं। एक मार्ग उसे पशु की ओर ले जाता है और एक मार्ग प्रभु की ओर। पशु और प्रभु के बीच मानव निरंतर गतिवान है, जो इन दोनों तटों पर जा सकता है। उसे उपयुक्त दिशा देना आवश्यक है। यदि यह दिशा न दी जाये तो वह पशु के मार्ग में ही गिर

जायेगा। गिर जाना सहज होता है, क्योंकि पतन सदा आसान रहता है।

इस काल में हम मनुष्य को ठीक दिशा देने में असमर्थ रहे हैं। इसका परिणाम है हिन्सोन्मुखता। व्यक्ति में जो पाशविक भावनायें हैं, उनके उभड़ने से समाज और राष्ट्र के तल पर बड़े युद्ध तक हो जाते हैं। फिर तो उसके रूप अत्यन्त विकराल दीख पड़ते हैं। वैसे ही जैसे सूर्य की एक किरण से अग्नि उत्पन्न नहीं होती, किन्तु यदि बहुत सी किरणें एकाग्र की जा सकें तो वे अग्नि जन्म दे सकती हैं, वैसे ही व्यक्ति व्यक्ति के भीतर जो छोटी छोटी हिन्सा की चिन्गारियां हैं, उनका ही समग्रीभूत रूप युद्ध का दावानल बन जाता है, और फिर इसे आधुनिक राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति की शास्त्रीय हवायें और प्रचंडता दे देती हैं।

व्यक्ति को परिवर्तित करना होगा। उसे प्रेम और अहिन्सा की दीक्षा देनी होगी। राष्ट्रों के राजनैतिक समझौतों से युद्ध बंद नहीं होंगे और कोई संघ तथा सम्मेलन अथवा शांति के लिये चलाये जानेवाले सामूहिक आन्दोलन स्थायी रूप से युद्ध से मुक्ति दिलाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। इन प्रयत्नों से जो शांति उद्भूत होगी, वह शांति दो युद्धों के बीच की ही शांति होगी, जो कि वस्तुतः शांति नहीं, बल्कि आनेवाले युद्ध की तैयारी होती है। इतिहास जिन्हें शांति के काल कहता है, जिनके पास सच्ची आंखें हैं, वे देख सकते हैं कि वे यथार्थ में शांति के नहीं, किन्तु युद्ध की तैयारी के काल थे। यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि व्यक्ति के बदले बिना शांति के कोई स्थायी आधार नहीं रखे जा सकते। व्यक्ति अहिन्सा और शांति में दीक्षित हो, तभी विश्व युद्ध से मुक्त हो सकता है।

—oo—

भौतिकवाद और आध्यात्मिकता

विचारों और भावनाओं को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में शब्द सदा ओछे पड़ते हैं। फिर अनेक बार कुछ शब्दों को पर्यायवाची मान लिया जाता है, जो गलत होता है। जैसे कष्ट और दुःख। सुख और आनन्द। इन शब्दों का पर्यायवाची शब्दों में प्रायः उपयोग होता है। पर यदि हम थोड़ा भी गहरे में जाने का प्रयत्न करें तो स्पष्ट हो जाता है कि कष्ट और दुःख, सुख और आनन्द यथार्थ में पर्यायवाची शब्द नहीं हैं।

यह सृष्टि मोटे रूप से दो विभागों में विभक्त है, जड़ और चेतन। चेतन सृष्टि सदा ही सुख की खोज में रही है, परन्तु मनुष्य को छोड़ अन्य प्राणियों ने आनन्द की खोज नहीं की, उनमें आनन्द की खोज की शक्ति ही नहीं

है। आनंद की खोज सदा मनुष्य ने की है और इस खोज में उसे सुख तथा आनंद के भेद का भी भान हुआ है। सुख और आनन्द में क्या भेद है, सामान्यतः यह मनुष्य भी कठिनाई से जान पाता है। पदार्थवादी सुख को ही आनंद समझ लेते हैं, परन्तु सुख आनन्द नहीं है और न वह दुःख का विरोध है। सुख मात्र कष्ट के अभाव का नाम है। कष्ट के विपरीत सुख है, दुख के विपरीत आनन्द है। मनुष्य का भी पार्थिव शरीर है, उस शरीर में इन्द्रियां हैं, मन है। पार्थिव शरीर के लिए, जिसके अन्तर्गत इंद्रियां और मन आ जाते हैं, आधिभौतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। जब मनुष्य को भी ये आधिभौतिक उपलब्धियां प्राप्त नहीं होतीं तब उसे कष्ट होता है। परंतु यह स्थिति भी होती है कि पार्थिव शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति हो, इंद्रियों और मन के तोष की समस्त आधिभौतिक वस्तुएं उपलब्ध हो, इन वस्तुओं की प्राप्ति से जो सुख मिलता है, उसका अभाव न हो और इतने पर भी दुःख न मिटे। बुद्ध और महावीर के जीवन इसके उदाहरण हैं कि उन्हें सारे आधिभौतिक सुख प्राप्त थे और इतने पर भी वे सुख उन्हें संतुष्ट नहीं कर सके। उन सुखों के बीच उनके भीतर उस दुःख की उत्पत्ति हुई, जिसने उनकी अन्तरात्मा में वैराग्य को प्रादुर्भूत किया और उन सब आधिभौतिक सुखों को छोड़ उन्होंने उस आध्यात्मिक मार्ग का अवलंबन किया, जिसने उन्हें आनन्द उपलब्ध कराया। जिस समय भारतवर्ष भौतिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न था उस समय जिनके हाथों में सारे भौतिक साधन चरमसीमा तक रहते थे, उन सम्राटों और राजाओं के लिए जीवन के संध्याकाल में राजपाट छोड़, बन में जाकर, तपस्या की व्यवस्था थी, क्योंकि आकंठ सुख में डूबे रहने पर भी उन्हें आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता था।

दुःख को कष्ट से भिन्न और पृथक् जानना अत्यंत आवश्यक है। जो दुःख और कष्ट को एक मान लेता है वही सुख और आनन्द को एक समझने की भूल में पड़ जाता है। कष्ट का तल ऐन्द्रिक असुविधा है और इसीलिये सुख का तल ऐन्द्रिक सुविधा। ऐन्द्रिक उत्तेजनाएं दो प्रकार का रूप ले सकती हैं– जो उत्तेजनाएं अप्रीतिकर हैं वे कष्टदायक प्रतीत होती हैं और जो उत्तेजनाएं प्रीतिकर हैं, उन्हें ही हम सुख के रूप में जानते हैं। आनन्द न तो ऐन्द्रिक है और न उत्तेजना है। वह तो अति ऐन्द्रिक अनुत्तेजना की अत्यंत शांत अवस्था है। ऐसे ही दुःख भी-ऐन्द्रिक नहीं है, वह भी आध्यात्मिक पीड़ा है।

जीवन में आधिभौतिक वस्तुओं का अभाव कष्टकारक है। इन कष्टों से चेतना तात्कालिक रूप से मुक्त होना चाहती है। इस मुक्ति की खोज में ही

सारे भौतिक विज्ञानों का जन्म होता है। भौतिक विज्ञान कष्ट के निवारणार्थ ही उत्पन्न हुआ, इसलिए जिन देशों में जितने अधिक आधिभौतिक कष्ट थे उन देशों में भौतिक विज्ञान ने उतनी ही अधिक उन्नति की है। चूंकि एक समय भारत में अत्यन्त भौतिक समृद्धि थी, यहां के मानवों को हरप्रकार की भौतिक सुविधाएं प्राप्त थी, इसीकारण भौतिक विज्ञान का जन्म यहां नहीं हुआ और प्राचीन भारत आध्यात्मिक खोजों में ही संलग्न रहा। जब कोई व्यक्ति भौतिक कष्टों से मुक्त होता है तो उसे उस दुःख के दर्शन होते हैं, जो कि कष्टों की भीड़ के पीछे छिपा रहता है। यही कारण है कि आध्यात्मिक ऊहा (विचारणा) समृद्धि में उत्पन्न होती है। राम और कृष्ण, महावीर और बुद्ध तथा हिन्दुओं के प्रायः सभी अवतार और जैनियों के चौवीसों तीर्थंकरों का राजपुत्र होना आकस्मिक घटना नहीं है। इसके पीछे कारण है और वह कारण यह है कि जब कोई भौतिक कष्ट प्रतीत नहीं होता तब आध्यात्मिक पीड़ा और दुःख का अनुभव होता है (जो दरिद्र हैं और कष्टों से घिरे हैं उनका जीवन कष्टों से जूझने में ही व्यतीत हो जाता है) और वे उस दुःख का अनुभव नहीं कर पाते, जो उन्हें आनंद की तलाश के लिए उत्प्रेरित करता है। कष्ट सुख की तलाश में ले जाते हैं, दुःख आनंद की खोज में। हमारे देश की दृष्टि आज तो भौतिकता की ओर हो गई है उसे हम आध्यात्मिक दृष्टि से बुरा नहीं मानते क्योंकि जब तक आधिभौतिक उन्नति होकर भौतिक कष्टों का निवारण नहीं होगा तब तक हमारी आंखें आध्यात्मिक आनंद के लिए भी मुंदी रहेगी।

यह संभव है कि धर्म का, जिसका आध्यात्मिकता से संबंध है, उदय अब उन सभ्यताओं में हो, जो आधिभौतिक समृद्धि के शिखर को छू रही हैं। वे संस्कृतियां, जिनका अतीत में ऐसे धर्म से प्रगाढ़ रूप से संबंध रहा है, आज दारिद्रय और दैन्य से ग्रसित हैं। जाने या अनजाने उनकी चेतनाधारा भौतिकवाद की ओर प्रवाहित हो रही है, यह बिल्कुल स्वाभाविक है।

किन्तु भौतिकवादी चिंतन रुग्ण चिंतन है, यह तो मानना ही होगा, क्योंकि वह कष्टों से उत्पन्न होता है। वह स्वास्थ्य की सूचना नहीं है। जब कोई व्यक्ति या समाज धर्मोन्मुख होता है तो वह इस बात का लक्षण है कि उसने भौतिक कष्टों के तल को पार किया है और इन्द्रियों की सीमाओं का अतिक्रमण। भौतिकवाद एक विवशता, एक आवश्यक बुराई है। जैसे कोई बीमार हो और उसके लिए औषधि की आवश्यकता हो, वैसे ही जब कोई व्यक्ति या समाज कष्टों से घिर जाता है तब उसकी आकांक्षा भौतिक दिशा में बहने लगती है। हम इसे

केवल दारिद्रय का इंगित मात्र मानते हैं। यथार्थ में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि भौतिकवाद निम्नतल में अध्यात्मवाद के आनंद की खोज है और अध्यात्म दिव्यभूमि में आनन्द की तलाश।

हमने यहां जो कुछ कहा है वह समूह और सामूहिक चेतना को ध्यान में रखकर कहा है। व्यक्ति अपवाद हो सकते हैं, जिनकी अंतर्दृष्टि गहरी है वे कष्टों में रहते हुए भी दुःख का अनुभव कर सकते हैं, जिनका विवेक शुद्ध है वे इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि सारे कष्ट मिट जाय तो भी दुःख नहीं मिटेगा। दुःख तो किसी भी प्रकार की सुविधा से नहीं मिट सकता क्योंकि उसका संबंध असुविधाओं से नहीं, बल्कि आत्म – अज्ञान से है। वह तो जीवन सत्य को न जानने का संताप है। उसका विसर्जन तो तभी होगा जब हम उसको जान सकेंगे, जो हमारे भीतर प्राणों के प्राण की भांति बैठा हुआ है। अनादि, अनंत और अमृत के बोध से ही व्यक्ति दुःख को पार करता है और आनंद में प्रतिष्ठित होता है।

आचार और विचार

विचार बीज–शक्ति है। जिस प्रकार बीज अपने में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता और वह दीख पड़ता है तब, जब वह वृक्ष बन जाता है। उसी प्रकार विचार भी तब तक नहीं दिखाई देता जब तक वह आचार नहीं बन जाता। किसी भी विचार की गौरव–गरिमा उसके आचार में परिणत होने पर प्रकट होती है। परन्तु जिस प्रकार बिना बीज के वृक्ष का निर्माण सम्भव नहीं है, उसी प्रकार बिना विचार के आचार नहीं होता। इसलिए आचार से भी विचार मूल्यवान है, क्योंकि आचार के पहले आधार विचार में रहते हैं।

विचार बीज है, आचार वृक्ष है। जब बीज ही नहीं होगा तो वृक्ष की कल्पना कैसे की जा सकती है? विचार में जिसे हम बोते हैं, आचार में उसकी ही फसल काटते हैं। यथार्थ में जीवन एक प्रकार की कृषि ही है। इस जीवन–रूपी कृषि में असफल वे रह जाते हैं जो कुछ भी नहीं बोते और उनके दुर्भाग्य का तो कहना ही क्या, जो गलत बीज बोयें, क्योंकि जो बोया है उसकी फसल तो काटनी ही पड़ती है। कर्म के फल से बचने का कोई उपाय नहीं है। कभी–कभी एक बात और देखी जाती है कि विचार विचार तक ही सीमित रह जाते हैं और उनके अनुसार आचार नहीं हो पाता। परन्तु यह बात प्रायः उन मनुष्यों के जीवन में होती है जिनके स्वयं के कोई विचार नहीं होते और

"कहीं की ईट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा" इस कहावत के अनुसार विचार करने की नैसर्गिक शक्ति रहते हुए भी ऐसे मनुष्य दूसरों के विचारों का संकलन मात्र किया करते हैं। ऐसे लोगों के मस्तिष्क में विचार आविर्भूत तो होते हैं, पर विकास नहीं हो पाते और उस बीज की भांति जो धरती के गर्भमें ही सड़—गलकर उसी में समा जाता है, मस्तिष्क में उठते और विलीन होते रहते हैं।

व्यक्तियों के बीच अंतर–संबंधों का शुभ होना ही किसी के जीवन के लिए विचार और आचार का आधार–मान लेना एक अधूरी और सच्चे आधार से हीन बात है। धर्म के लिए आचार का अर्थ और भी गहरा है। वह अंतर–संबंधों का शुभ होना ही नहीं है, बल्कि अंतर–सत्ता का शिव होना भी है। किसी व्यक्ति के जीवन की दृष्टि से आचार केवल बाह्य घटना ही नहीं बल्कि वह आन्तरिक ऊहापोह है, जो उसके अंतर में क्रांति पैदा करता है। जब विचार के कारण अंतःकरण बदलता है तो आचार तो अपने आप बदल जाता है। जैसा ऊपर कहा गया है, आचार की अपेक्षा विचार का मूल्य कहीं अधिक है क्योंकि आचार विचार पर निर्भर रहता है। अंतःकरण में विचारों के परिवर्तन के अनुसार आचार भी परिवर्तित होता जाता है।

मनुष्य का अंतःकरण दो प्रकार से बदला जा सकता है। एक तो बाह्य प्रभाव, दबाव और उपदेश आदि से। इस ऊपरी विधि से अंतःकरण बदला हुआ मालूम पड़ता है। परन्तु वस्तुतः बदलता नहीं। इस प्रकार की रद्दोबदल केवल वस्त्रों के परिवर्तन के सदृश है। ऊपरी परिवर्तन से अंतःकरण भीतर जैसा ही है, वैसा ही बना रहता है। ऊपर से थोपे गये इस प्रकार के विचार जिनमें नैतिक श्रद्धाएं शुभ आदर्श आदि आ जाते हैं, जीवन के आचार को जबर्दस्ती बदलते रहते हैं। लेकिन उसका अंतःकरण अछूता ही रह जाता है और कभी अत्यधिक विपरीत अथवा दबावपूर्ण परिस्थिति में ऐसा आचरण या तो वाष्पीभूत हो जाता है या पाखण्ड में परिवर्तित अथवा पागलपन में परिणत हो जाता है क्योंकि प्रभाव अथवा दबाव से जिसे साधा गया है ऐसे सदाचरण की पर्त अत्यन्त पतली होती है जिसमें चोट पड़ते ही दरारें और गड्ढे हो जाते हैं। जीवन के झंझावातों को सहन करने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती। ऐसा आचरण गुलदस्ते में संभाले हुए फूलों की तरह होता है जिन फूलों में कोई जड़ नहीं होती। इससे सजावट और शोभा तो बन जाती है, लेकिन उस दृढता, संतोष और शान्ति के दर्शन नहीं होते जो अंतःकरण में उत्पन्न विचारों से होती है, जिसमें मौलिकता रहती है और जो आन्तरिक क्रांति तक जाती है।

अंत:करण की यह अवस्था स्वयं भीतर विचार–शक्ति के जागरण से उपलब्ध होती है। जैसे पानी की हर बूंद में विद्युत छिपी हुई है। वैसे ही चेतना के प्रत्येक अणु में विचार–शक्ति है और जैसे पानी से विद्युत पैदा करने के उपाय हैं, वैसे ही विचार–शक्ति के जगा लेने के भी। इस विज्ञान का नाम ही सच्चा धर्म है।

प्रत्येक मनुष्य को यह जानना चाहिए कि जिस शक्ति का वह निरंतर प्रयोग करेगा, वह शक्ति उसमें बढ़ती जाती है। यह एक प्राकृतिक बात है। सरिता की शोभा उसके प्रवाह में है। यदि उसके प्रवाह को एकदम रोककर बांध दिया जाय तो भले ही किसी क्षेत्र के लिए उसे हम उपयोगी बना लें, उसका जीवन–लक्ष्य नष्ट हो जायगा। इतना ही नहीं, वह शोभा और श्रीविहीन हो, अपनी उस निर्मलता और प्राणदायिनी शक्ति से भी रहित हो जायगी, जो उसके प्रवाह से सुदूर –वासियों को सुलभ होती रही है। यही क्या, हम अपने –आपको ही लें। यदि हम अपने पैरों से काम न लें तो पंगु हो जायंगें। यदि हम आंखों को बहुत समय तक अंधकार में रखें तो वे अंधी हो जायंगी। यदि बहुत वर्षों तक हम मौन रक्खें तो हमारी मुखर–शक्ति जाती रहेगी और हम गूंगे बन जायंगे। यही बात विचार के संबंध में भी है। जो लोग दूसरों के विचार स्वीकार करने की आदत बना लेते हैं उनकी स्वयं की विचार–शक्ति या तो पैदा ही नहीं हो पाती और यदि होती भी है तो पुनः सो जाती है। यानी प्रसव के साथ ही समाप्त हो जाती है। ऐसे लोग ही दूसरोंके लिये हुए संकलित विचारों के कारण आचार में पंगु देखे जाते हैं। उनके आचारकी पंगुता शरीर की आंशिक पंगुता से कहीं भयंकर होती है। क्योंकि शरीर से पंगु व्यक्ति अकर्मण्य और निष्क्रिय रहने के कारण न स्वयं का कोई अहित कर सकता है न समाज का। किंतु आचार से पंगु व्यक्ति असंदिग्ध रूप से अनेक बार अपने साथ समाज को भी क्षति पहुंचाते देखा गया है।

स्वयं विचार करने से प्रत्येक परिस्थिति में विचार की ऊर्जा का क्रमशः जागरण होता है। जब विचार जागता है तो जीवन में एक नया नेत्र उपलब्ध हो जाता है। यही वह तीसरा नेत्र है जो हमारे दो चर्मचक्षुओं की भांति साधारण नहीं वरन् किसी भी वस्तु, समस्या और उसके आर–पार देखने की दूर दृष्टि रखता हैं। जो विचार–रूपी नेत्र को उपलब्ध नहीं कर पाते, वे जीवन का काम दो चर्मनेत्रों से चलाते जाते हैं। अपने इस तीसरे आन्तरिक नेत्र के अभाव में ऐसे लोगों को जीवन में जो शुभ है, उसके दर्शन नहीं हो पाते और

इस नेत्र के अभाव में ऐसे लोगों का जीवन यांत्रिक रूप से चलता है जिसका न कोई लक्ष्य होता है न उद्देश्य। किंतु जिसको विचार–रूपी तृतीय नेत्र उपलब्ध हो गया और विवेक की ज्योति मिल गई, उसके उपलब्ध होते ही उस नेत्र के उन्मीलन मात्र पर आचार अपने–आप परिणाम –रूप में उसका अनुचर बन जाता है। चर्म चक्षुओं के रहते आग में हाथ देना, मार्ग के गड्ढों में गिरना अथवा दीवार से सिर टकराना असंभव है। उसीप्रकार अनाचार के मार्ग में प्रवृत होना अथवा किसी भी परिस्थिति में कर्तव्याकर्तव्य से च्युत होना उस व्यक्ति के लिए असंभव हो जाता है, जिसे यह विचार–रूपी तीसरा नेत्र प्राप्त हो गया उस व्यक्ति के लिए असंभव हो जाता है जिसे यह विचार–रूपी तीसरा नेत्र प्राप्त हो गया है। इस विवेकदर्शी त्रिनेत्रवाले व्यक्ति की शुभाचार के सिवा कोई गति नहीं रहती। विचार–शक्ति के समक्ष विकल्प नहीं होते। उसके पास तो मात्र शुभ–ही–शुभ रह जाता है।

साहित्य की सरिता :

समाज का शरीर तो व्यक्तियों से बनता है, किन्तु उसकी आत्मा विचारों और भावों से निर्मित होती है। व्यक्ति सदा बदला करते हैं, किन्तु विचार शाश्वत रहते हैं। विचारों की शक्ति व्यक्तियों की शक्ति से कहीं बड़ी है।

विचार एक परंपरा है, वह किसी व्यक्ति विशेष का नहीं होता। उसमें तो हजारों मनों की मेधा का दान होता है। वह व्यक्तिगत मेधा तो विलीन हो जाती है, किन्तु उनके विचार और भाव रह जाते हैं। इन विचारों और भावों की बड़ी शक्ति है। यथार्थ में उनके सूक्ष्म स्पन्दन ही हमें परिचालित करते हैं। जो हम आज विचार करते हैं, उसी विचार के अनुरूप कल हम अपने को पाते हैं। विचार में जो अंकुरित होता है वही भविष्य में आचरण बन जाता है। विचार ही व्यक्तियों को ढालते और निर्मित करते हैं और जैसे व्यष्टि होते हैं वैसी ही समष्टि का निर्माण होता है। इसलिये विचारों और भावों की कैसी शक्तियों को हम समाज में उन्मुक्त कर रहे हैं यह सदा अत्यधिक विचारणीय है।

साहित्य विचारों और भावों को उन्मुक्त करने का माध्यम है। उससे शुभ या अशुभ दोनों ही फलित हो सकते हैं। साहित्य अतीत से प्रभावित होता है और भविष्यको प्रभावित करता है। वह एक अनंत श्रृंखला का अंग है। अतीत की वसीयत उसके ऊपर है और भविष्य का दायित्व। इन दो कगारों के बीच ही साहित्य की सरिता बहती है। किन्तु इस युग में एक

अघटित घटना घटी है। जिसे आज हम साहित्य कह रहे हैं, स्वतंत्रता के नाम पर उसने अतीत से अपने संबंध-विच्छिन्न कर लिये है और भविष्य के प्रति अपना समस्त दायित्व छोड दिया है। ऐसा साहित्य सरिता की शांत धारा नहीं रहा बल्कि वर्षा की बाढ़ हो गया है। वह कगारों और तटों को छोड़कर बह रहा है। उसकी गति सत्य के सागर की ओर न होकर कहीं भी बिना किसी विशिष्ट दिशा के हो रही है। स्वभावतः वह प्राणों का संवर्द्धक न होकर संघातक हो गया है। उसके द्वारा पैदा की जा रही विचारों और भावों की सूक्ष्म तरंगें मंगल सिद्ध न होकर, अमंगल ही सिद्ध हो रही हैं। उसकी उपादेयता व्यक्ति के जीवन और जीवन की चरम दृष्टि से कुछ भी नहीं रह गई है। जो व्यष्टि का कल्याण करने में असमर्थ है उसके द्वारा समष्टि का कल्याण कैसे हो सकता है, क्योंकि समाज तो व्यक्तियों का ही जोड़ है। जो साहित्य अतीत के प्रति आदर नहीं रखता और भविष्य के लिये चिन्ता नहीं करता, स्वभावतः वर्तमान के लिये वह अनुपादेय हो जाता है, क्योंकि वर्तमान तो अतीत और भविष्य के बीच का एक छोटा सा अंश है। भूत और भविष्य को भुलाने पर वर्तमान उसके हाथों में नहीं रह सकता। यथार्थ में समय की धारा अविभाज्य है। वस्तुतः उसमें कोई खंड़ नहीं है जिसकी वर्तमान मंगल के लिये होगी, वह अनिवार्यतः भूत के प्रति श्रद्धा और भविष्य के प्रति दायित्व का अनुभव करेगा। आज का साहित्य इस तरह की निष्ठा को अपनी आत्मा स्वीकार नही करता।

साहित्य की यह दशा अत्यंत शोचनीय है। ऐसा साहित्य आत्मा का उन्नायक तो बनता ही नहीं, वरन् मन का अत्यंत निम्न और भ्रष्ट रंजन होकर ही रह जाता है। उसकी पकड़ ऐन्द्रिक से अधिक नहीं हो पाती। उसका केन्द्र काम हो जाता है। मानव जीवन के दो ही प्रधान केन्द्र हैं : राम और काम। जो काम की उपासना करता है, वह राम से वंचित रह जाता है। काम क्षणिक है, इसलिये उसपर केन्द्रित साहित्य भी सामयिक होता है। राम की अनुभूति शाश्वत है। उससे अनुप्रेरित साहित्य स्थायी और सनातन हो जाता है। आज का साहित्य राम से शून्य है और यही कारण है कि वह उन प्रेरणाओं को पैदा करने में असमर्थ हैं जो कि व्यक्ति के जीवन को उदात्त बना सके। बिना व्यक्ति के उदात्त बने समाज उदात्त बन ही नहीं सकता। ऐसे साहित्य से पैदा हुई सारी प्रेरणायें व्यष्टि और समष्टि को नीचे से नीचे की ओर ले जाती हैं। प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति अपने अधःपतन में कोई न कोई और किसी न किसी प्रकार का समर्थन पा लेने का इच्छुक रहता है। जब

साहित्य से भी ऐसी वृत्तियों का समर्थन मिल जाय तब तो पूछना ही क्या? इस प्रकार का समर्थन पाने के कारण आज व्यक्ति को अपने पतन की आत्म-आलोचना उपलब्ध नहीं होती। साहित्य वही श्रेयस्कर है, जो व्यक्ति को आत्म-आलोचना दे, जिसके प्रकाश में वह अपनी वास्तविकता को पहचान सके और उन आदर्शों से अपनी तुलना कर सके, जो यदि वह चाहे तो स्वयं बन सकता है। सत्साहित्य का लक्षण है कि हम जैसे हैं, उसकी आलोचना कर हम जैसे हो सकते हैं, उसके लिये हमारे मन में आकर्षण की उत्पत्ति करे। असत्साहित्य हम जैसे हैं उसका समर्थन करता है और हम उससे अन्यथा भी हो सकते हैं, इसके कोई स्वप्न और आदर्श उससे पैदा नहीं होते।

व्यष्टि और समष्टि की मूलभूत क्रांति के लिये साहित्य की पूरी रेखा बदलनी होगी। उसका पूर्ण कायाकल्प करना होगा। काम के केन्द्र से मुक्त कर उसे राम की ओर घुमाना होगा। तभी हम उन कल्याणकारी आधारों को रख सकेंगे जिनके ऊपर मनुष्य का ध्वस्त हुआ मंदिर पुनः खड़ा किया जा सके। ऐसे विचारों और भावों की आंधियां चाहिये, जो व्यक्ति के हृदय में इकट्ठे हुये और समाज में फैले हुये कूड़े करकट को उड़ा ले जाये और ऐसे बादलों को ले आये जिनसे शुभ जीवन के बीजों की वर्षा हो सके। साहित्य यह कर सकता है और यदि मनुष्य को बचाना है तो उसे यह करना होगा। साहित्य में ही मानव में होनेवाली क्रांति की सारी संभावनायें छिपी हैं।

—००—

जीवन और मृत्यु :

जगत् की प्रत्येक वस्तु द्वैत रूप से निर्मित है और यह द्वैत अत्यंत विरोधी घेरों से बना है, जैसे प्रकाश और अंधकार, परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील, 'सामयिक और शाश्वत, अनित्य और नित्य, जीवन और मृत्यु। गाडी का चाक स्थिर कील पर घूमता है। चक्र गतिशील है, पर उसकी गति ऐसी कील पर निर्भर है, 'जिसमें कोई गति नहीं है। यहकील इस गति का कारण है। यदि यह स्थिर कील टूट जाये तो चलनेवाले चाक की गति रुक जायेगी। इसी प्रकार मानव का जीवन है, जो उसमें स्थित आत्म तत्व रूपी कील पर केन्द्रित है. यह आत्म तत्व रूपी कील स्वयं न तो घटती बढती और न घूमती है, पर इसके जो उपकरण इंद्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण हैं, ये सब गाडी के चक्कों की भांति घूमते हैं, सतत परिवर्तनशील रहते हैं। यही क्या सबकी आधारभूत

यह जो पृथ्वी है, यह स्वयं घूमती है, और सतत् घूमती रहती है, एक कील के आधार पर। यही हाल अन्य ग्रह नक्षत्रों का है, जिसे हमारे वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखें तो एक विरोधी आधार, एक अस्तित्व, हमें सर्वत्र दिखाई देगा, जो वस्तु. पदार्थ और चेतन प्राणी के भी अस्तित्व का कारणभूत है। यह आधार देखने में हमें विरोधी दिखाई देता है पर यथार्थ में विरोधी न होकर परिपूरक है।

इसी प्रकार मृत्यु जीवन की विरोधिनी नहीं है, वरन् मृत्यु परिधि है, अमृत केन्द्र है। मृत्यु का चक्र एक अक्षय अमृत कील पर चलता है। अर्थात् सृष्टि के भीतर जहां जहां मृत्यु दिखाई देती है, वहां वहां वह भी मौजूद है, जो मरणधर्मा नहीं है। जहां परिवर्तन दिखाई पडे, वहीं उसे भी पहचान लेना चाहिये, जो परिवर्तनशील नहीं है। दूसरे शब्दों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता, यदि उसके भीतर कोई अपरिवर्तनशील न हो। अपरिवर्तनशील की अनुपस्थिति में परिवर्तनशील उसी प्रकार बिखर जायेगा जैसे फूलों की माला धागे के अभाव में बिखर जाती है। स्वयं को ही लीजिये। बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था की तह में कोई है अन्यथा यह परिवर्तन कैसा? यह कोई जो है उसका भी हमें बोध होता है, क्योंकि जीवन के इस परिवर्तन चक्र में बचपन, युवावस्था और वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर भी हमारे भीतर जो अन्य तत्व है इन परिवर्तनों से अप्रभावित अक्षय रूप से वह वही रहता है, जो पूर्व में था। इन परिवर्तनों की तह में यह धागा है, जो अवस्थाओं को संभाले रहता है, और एक में गूंथे रहता है। संक्षेप में, जहां जहां अनित्य दिखाई पडता है, वहां वहां नित्य भी है।

हम अनित्य को ही जान पाते हैं, क्योंकि हमारी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां अनित्य हैं। जो नित्य है वह अदृश्य है, अगोचर है, इस जगत् में जो भी हमें दिखाई पडता है, जो भी हमें सुनाई पडता है, जो भी हमारी इंद्रियों का अनुभव बनता है, वह अनित्य और परिवर्तनशील ही होगा, क्योंकि हमारी समस्त इंद्रियां परिवर्तनशील से ही निर्मित हैं। उनके माध्यम से उसे नहीं जाना जा सकता, जो कि परिवर्तन के पीछे है और समस्त परिवर्तन का आधार है। इसलिये हम अपनी चारों ओर मृत्यु तो सदा ही देखते हैं, अमृत नहीं देखते। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि हम वस्तुतः जीवन से परिचित नहीं हो पाते और जिसे हम जीवन जानते हैं, वह केवल क्रमिक मृत्यु है, उसीका ही रूप है। व्यक्ति जिस दिन जन्म लेता है, उसी दिन उसकी

मृत्यु प्रारंभ हो जाती है। वह क्रमशः मरने लगता है और जिसे हम एक दिन मृत्यु के रूप में जानते हैं, वह कोई आकस्मिक घटना नहीं, वरन् उसी लंबी मरण प्रक्रिया का समापन या समारोप है, जो जन्म के दिन आरंभ हुई थी, अथवा जिस पार्थिव वस्तु या व्यक्ति को हमने उसके जन्म के रूप में देखा था उसके परिवर्तित, विकसित और विसर्जित रूप को भी हम मृत्यु कह सकते हैं, इस प्रकार जन्म भी और मृत्यु भी ये मात्र दो घटनायें हैं, समग्र जीवन नहीं। जो चीज बनेगी वह मिटेगी भी, इसी प्रकार जो जन्म लेगा वह मृत्यु को भी प्राप्त होगा, यह निश्चित है। अतः मृत्यु एक जन्म के समापन की प्रक्रिया है, जीवन की नहीं। जीवन का संबंध तो न जन्म से है, न मृत्यु से। वह तो जीवन ही है सरिता की इस अजस्त्र धारा के समान, जिसका न उद्गम किसी ने देखा है, न सागर के अंतराल में विलय। इस प्रकार जन्म और मृत्यु दो बिन्दुओं के बीच जिसे हम जानते हैं, वह यथार्थ जीवन नहीं है। यथार्थ जीवन तो जन्म के भी पहले है और मृत्यु के पश्चात् भी। जन्म और मृत्यु के बीच में जीवन की सच्ची घटना नहीं घटती, वरन् जीवन के ही मध्य में अनेक बार जन्म और मृत्यु की घटनायें घटती रहती हैं। जिस तत्त्व को हम जीवन कहते हैं, वही जन्म ग्रहण करता है और वही मृत्यु भी अंगीकार करता है। लेकिन यथार्थ में न तो उसका जन्म होता है न उसकी मृत्यु होती है। जन्म और मृत्यु वस्त्रों के पहनने और उतारने की भांति है। जन्म और मृत्यु के बीच के जीवन को हम जीवन नहीं मानते, वरन् जन्म और मृत्यु के परिवर्तनशील चक्र के भीतर जो नित्य है, वह जीवन है। इस तरह मानने का प्रमाण स्वरूप स्पष्ट कारण यह है कि शरीर तो प्रतिक्षण बदल रहा है, अन्यथा जो शिशु था वह वृद्ध नहीं हो सकता था, इस परिवर्तन को संभालनेवाला सूत्र या तत्त्व पृथक् ही हो सकता है।

इस तत्व को इंद्रियाँ नहीं देख सकती। किन्तु इंद्रियों के ऊपर उठकर देखने की संभावना है, अतिइंद्रिय दर्शन असंभव नहीं। उस भांति ही मृत्यु के अतीत अमृत के दर्शन होते हैं, जो अपने भीतर अपनी मृत्यु की परिधि में अक्षय अमृत केन्द्र को जान लेता है, वह समस्त सृष्टि में भी अनन्त के भीतर नित्य को जान लेता है, जीवन सत्य को जानने के लिये स्वयं के भीतर उसको जानना पड़ता है, जो इंद्रियों के परे है और परे होने के कारण इंद्रियों से तो जाना ही नहीं जा सकता, वरन् तभी जाना जा सकता है, जब सब इंद्रियां शांत और शिथिल हों, निष्क्रिय और व्यापार शून्य हों। इसे ही योग ने 'समाधि की अवस्था' कहा

है। समाधि में व्यक्ति के भीतर नित्य का दर्शन होता है। जो व्यक्ति समाधि के माध्यम से जीवन को जान पाता है, वह व्यक्ति ठीक अर्थों में जीवित है। बुद्ध की परंपरा में साधु की उम्र तबसे गिनते थे जब उसको समाधि उपलब्ध हो जाती थी। इसके पूर्व का हमारा जो जीवन है, उसका मूल्य स्वप्न से अधिक नहीं है। वेदान्त ने इन्हीं अर्थों में जगत् को माया कहा है। माया का अर्थ हुआ, बिना जीवन को जाने जिये जाना अथवा एक अज्ञान, अंधकार और अविवेक की स्थिति में बने रहना। ऐसे समस्त जीवन के भीतर मृत्यु का भय छिपा रहता है, क्योंकि जहां अज्ञान है, अंधकार है, और अविवेक है वहां भय होगा ही और जो मृत्यु से प्रतिक्षण भयभीत है, वह यथार्थ जीवन जियेगा कैसे। वह केवल मृत्यु से सुरक्षा खोजता रहता है, मृत्यु से बचते रहने के प्रयास में ही वह एक दिन मिट जाता है। लेकिन जो जीवन सत्य को जान पाता है उसका मृत्यु का समस्त भय विलीन हो जाता है। वह न तो मृत्यु को शत्रु कहता है और न मित्र। वह तो जानता है कि मृत्यु है ही नहीं।

इस बोध को जो प्राप्त हो जाता है उसकी समग्र जीवनचर्या में आमूल परिवर्तन हो जाता है। सामान्य मनुष्य का जीवन भय का भूत है। ऐसे व्यक्ति का जीवन अभय केन्द्रित हो जाता है। भय से ही सब पाप निकलते हैं। भय से ही सब दुःख पैदा होते हैं, भय से ही सब चिन्तायें उत्पन्न होती हैं। अभय से सब पाप, दुख और चिन्ताओं का विसर्जन हो जाता है। अभय आनन्द है, आनन्द ब्रह्म है। ऐसी ही अनुभूति के क्षण में जन्म और मृत्यु से अप्रभावित किसी जीवन-मुक्त ने कहा होगा : 'अहं ब्रह्मास्मि'. "तत्वमसि.।" सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

—००—

आधुनिक मनुष्य और धर्म :

मनुष्य के जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य खो गया है। ऐसा जान पड़ता है कि मानव जीता है, क्योंकि उसे जीना पड़ता है। उसके समग्र जीवन का कोई स्पष्ट उद्देश्य न उसके सामने है, न उसे उसकी प्रतीति ही होती है। जो काम उसके सामने आता है, वह कर देता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि वह क्षण-जीवी है, पर उसके अंदर जीवन की कोई ऐसी अंतरधारा नहीं है, जिससे उसे सच्चा संतोष और सच्ची शांति प्राप्त हो सके। दृष्टांत के लिये समाज में जिसका सर्वश्रेष्ठ स्थान है, उन राजनैतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक महापुरुषों तक के जीवन को ले लीजिये। ऐसे अधिकांश लोगों की उपलब्धि भी वह उपलब्धि है, जो

बाह्य जगत् से संबंध रखती है, उनके अंतर से नहीं। इसलिये जब वे जाते हैं तो खाली हाथ अर्थात् अतृप्त। और ऐसे ही लोगों के लिये, खाली हाथ आने और खाली हाथ जानेवाली कहावत चरितार्थ होती है। जिसे आत्मतृप्ति कहते हैं, वह उन्हें प्राप्त नहीं होती। बाह्य उपलब्धियां तो कर्म से संबंध रखती हैं, आत्मचिन्तन से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। कभी कभी ऐसा व्यक्ति दीख जाता है, जिसे कर्म के द्वारा प्राप्त होनेवाली बाह्य उपलब्धियां भले ही न हुई हों, पर वह व्यक्ति संतोष, शांति और आनन्द को प्राप्त कर लेता है। ऐसे व्यक्ति आज क्वचित ही दृष्टिगोचर होते हैं, और व्यष्टि रूप से इस संतोष, शांति एवं आनन्द का अभाव हो गया है, तब समष्टि रूप से यदि ये दिखाई न दें तो इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये। आखिर व्यष्टि ही तो समष्टि का पूरक है। एक है तो अनेक हैं, एक नहीं तो शून्य के सदृश्य।

उपलब्धियां दो प्रकार की होती हैं। एक बाह्य और दूसरी आंतरिक। बड़ी से बड़ी बाह्य उपलब्धियां भी आंतरिक संतोष, शांति और आनन्द का हेतु नही बन सकती। बाहर की जो उपलब्धियां हैं, वे भीतर की दरिद्रता को भुलाये रखती है, पर मिटाती नहीं। और आधुनिक मनुष्य का संबंध केवल बाहर से हो गया है। उनका न कोई लक्ष्य है, न उद्देश्य और न उसे प्राप्त करने के लिये उसके पास कोई साधना। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारा युग सब प्रकार की सुविधा, समृद्धि आदि साधनों को पाकर भी मानवीय दृष्टि से दयनीय हो गया है। ऐसा जान पड़ता है, मनुष्य ने अपना सारा गौरव और गरिमा खो दी है।

यह युग वैज्ञानिक कहा जाता है और एकांगी जान पड़ता है। विज्ञान ने कितनी बाह्य सुविधाओं को जुटाया है और वह इसमें निरंतर वृद्धि करता जा रहा है, परंतु वह सब आंतरिक संतोष, शांति और आनन्द के बिना अधूरा है। हम वैज्ञानिक उपलब्धियों से समृद्ध हो रहे हैं, ये उपलब्धियां हमें भौतिक दृष्टि से समृद्ध बना रही हैं, हमारे सुख साधन बढ़ा रही हैं, किंतु हम अनुभव कर रहे हैं कि इस उन्नति, उपलब्धि और सुख समृद्धि की इस अभिवृद्धि के बावजूद हमारी भूख बढ़ रही है। हम सदा अतृप्त ही रहते हैं और कहना चाहिये हमारे संतोष और शांति की संपदा में वृद्धि के बदले उल्टा ह्रास ही होता हमें दिखाई देता है। इसकी वजह क्या है? विचार से जान पड़ता है कि हम आचार धर्म की अपेक्षा व्यापार धर्म में अधिक प्रवृत्त हो गये हैं। अपनी आंतरिक सत्ता से विमुख हो हम बाह्य आडंबर और बाह्य उपलब्धियों के पीछे पड़े

हुये हैं। उदाहरण के लिये हम अपने पार्थिव देह का मल तो धोते हैं, उसे वस्त्रादि से अलंकृत करते हैं, किन्तु अपनी आंतरिक पवित्रता की ओर ध्यान नहीं देते। यही नहीं, उसके परिमार्जन अथवा विकास की ओर हमारा कभी ध्यान ही नहीं जाता।

बाह्य उपकरणों और बाह्य सत्ता को तो हम स्वीकार करते हैं, किन्तु अपनी आंतरिक सत्ता को, जो हमारे शांति और संतोष का वास्तविक सूत्र है, हम भुलाये बैठे हैं। संक्षेप में, हम लक्ष्य से विचलित हो गये हैं। हमें बाह्य लक्ष्य के साथ अपने आंतरिक लक्ष्य को भी प्राप्त करना होगा। जिस प्रकार बाह्य उपलब्धियों अथवा लक्ष्य की प्राप्ति का साधन कर्म है, उसी प्रकार आंतरिक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन धर्म है। इस वैज्ञानिक युग का मनुष्य केवल बाह्य सुविधायें जुटाने में ही संलग्न है और सब कुछ पाकर भी उसने स्वयं को खो दिया है। व्यष्टि और समष्टि दोनों ही दृष्टियों से जितना उसने पाया है, उतना ही अधिक अपने आपको खोया है। स्वयं को पाने का मार्ग है धर्म। अतः धर्म भी एक प्रकार का विज्ञान है। धर्म का अर्थ यहां हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम अथवा किसी भी संप्रदाय तक सीमित नहीं। जिस प्रकार विज्ञान न हिन्दू होता है, न मुसलमान, उसी प्रकार धर्म भी न हिन्दू है, न मुसलमान, न ईसाई। जिसे आधुनिक युग में विज्ञान कहा जाता है उसका संबंध है पदार्थ से। धर्म का संबंध है आत्मिकता से। विज्ञान अपनी खोज से अणुशक्ति पर पहुंचता है, धर्म अपनी खोज से आत्मशक्ति पर। स्पष्ट है, अणुशक्ति से आत्मशक्ति कहीं अधिक सबल, सशक्त और महान् है। आखिर अणुशक्ति एक निर्जीव पदार्थ के प्रसार का परिणाम है तो आत्मशक्ति चेतनशक्ति के सशक्त, संयमित, संजीवित और सुदृढ स्वास्थ के परिणाम। फिर अणुशक्ति का आविष्कर्ता, निर्माता अधिष्ठाता भी तो आत्मशक्तिवाला ही है। विज्ञान अपने विश्लेषण से क्षुद्र को पाता है और धर्म अपने विश्लेषण से विराट् को। विज्ञान से भले ही हमारे आधिभौतिक सुख, साधन बढ जायें, पर हम इससे वास्तविक आनंद को प्राप्त नहीं कर सकते, जिससे हमारा अंतस् का संबंध है। इसी प्रकार जीवन के क्षेत्र में विज्ञान कोई कारगार समाधान नहीं है, अकेला विज्ञान मनुष्य को सभ्य भले ही बना दे, संस्कृति उसके पास नहीं होगी। विज्ञान से सभ्यता बनती है, पर संस्कृति का निर्माण तो धर्म ही करता है। इस प्रकार जीवनरूपी गाडी के दोनों चक्रों को समान गति प्रदान करने के लिये मानव जीवन में दोनों का उचित सम्मिश्रण होना बहुत आवश्यक है, अन्यथा जीवन एक रुखा हो जायेगा।

मनुष्य जैसा पैदा होता है, सामान्यतः आंतरिक दृष्टि से वह वहीं रह जाता है। विज्ञान से अथवा उसके अन्य उपायों से वह पदार्थों की उपलब्धि की दृष्टि से कितना ही आगे क्यों न बढ़ जाये, किन्तु आत्मज्ञान की दृष्टि से तो वह एक पग भी आगे नहीं बढ़ता। आंतरिक उपलब्धियों के संबंध में आज का मानव प्रायः वैसा ही है जैसा प्रकृति उसे पैदा करती है। उस दिशा में वह कोई काम नहीं करता। उसका सारा काम बाह्य क्षेत्र में ही होता है और वह स्वयं भी जगत् से ही अधिक प्रीत करता है और प्रभावित रहता है। धर्म आंतरिक जगत् में वह कैसे विकसित हो, इसकी पद्धति और प्रक्रिया का निर्देश करता है, इस संबंध में उसका पथ प्रदर्शन करता है। ऐसे वैज्ञानिक शुद्ध धर्म को यदि मनुष्य में जाग्रत और प्रतिष्ठित नहीं किया गया तो वह अंत में बहुत दूर तक खोखला तो हो ही गया है, भविष्य में उसे बचाया तक न जा सकेगा। यदि व्यष्टि, जो समष्टि का सूत्र है, ठीक नहीं होता तो समाज के समष्टि रूप से ठीक होने की संभावना तो हो ही नहीं सकती। नाना प्रकार के संघर्षों और युद्ध के रूप में जो आत्मघाती प्रवृत्तियां प्रगट हो रही हैं और तृतीय विश्वयुद्ध के रूप में जो संभावनायें संसार के सम्मुख खड़ी हैं उसका आधारभूत कारण व्यष्टि और समष्टि का धर्म विरक्त होना ही है। यही उसके वैर, विरोध, ईर्ष्या, घृणा, विद्वेष, रोष, क्रोध और हिन्सा आदि पाशविक प्रवृत्तियोंका कारण है। इन संघर्षों और युद्धों का जो केवल राजनैतिक और आर्थिक कारण माना जा रहा है, वह गलत है। गहराई में जाने से स्पष्ट हो जाता है कि इसका कारण उसका धार्मिक न रह जाना है। जो धार्मिक नहीं है, उनके जीवन में वैर, विरोध ईर्ष्या, घृणा, विद्वेष, क्रोध, रोष और हिन्सा सहज ही फलित होंगे और जो धार्मिक हैं उनके जीवन में प्रेम सद्भाव, करुणा, दया और क्षमा आदि सद्गुणों का सहज आविर्भाव होगा।

मनुष्य के भीतर जो विसंगति की स्थिति है, अर्थात् उसके भीतर जो, स्व विरोधी वृत्तियां हैं, और वासनाओं की अराजकता है, उसका चित्त संतोष, शांति और आनंद से भरा हुआ न होकर कोलाहलपूर्ण है। इन सबका मूल कारण है आत्म अज्ञान, अर्थात् हम अपने को ही नहीं जानते, तब यह कैसे समझ सकते हैं कि हममें और दूसरों में कोई भेद है ही नहीं और यह समस्त सृष्टि एक ही तत्त्व है। बिना धर्म के जिस चेतना का हमारे भीतर आवास है, उसका हमें परिचय नहीं मिल सकता। धर्म आत्मज्ञान की विधि है जिससे हमें अपना यथार्थ ज्ञान हो जाता है और इस विधि के द्वारा जो स्वयं को जान लेता है. वह समस्त को जाने लेता है।

क्योंकि उसमें और समस्त सृष्टि में कोई अंतर है ही नहीं। स्वयं को जानने के लिये व्यक्ति को अपने भीतर एक विभाजन करना होगा। यह विभाजन इस बात का कि उसकी आत्मा क्या है, और उसकी देह क्या है, क्योंकि मनुष्य में प्रकृति भी है और परमात्मा भी। मनुष्य एक दैत है। प्रकृति और परमात्मा का, व्यष्टि और समष्टि का भी यह संबंध है। जिस प्रकार प्रकृति और परमात्मा रूप से हम पृथक् हो जी नहीं सकते, उसी प्रकार व्यष्टि समष्टि से विलग अपने अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकता। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, अविभाज्य और अनिवार्य अंग हैं। आत्म अज्ञान में हम प्रकृति को ही अपना स्वरूप समझे रहते हैं, अपने परमात्मा स्वरूप को भुला बैठे हैं। चूंकि विज्ञान प्रकृति के ऊपर नहीं उठ सकता, इसलिये आत्मा को जानने का उसके पास कोई साधन नहीं है। इसलिये वैज्ञानिकों ने जो यह बात कही है कि आत्मा नहीं है, उन्होंने बड़ी अवैज्ञानिक बात कही है। उनका कथन वैसा है जैसे आंख कहे कि ध्वनि होती ही नहीं, क्योंकि नेत्र ध्वनि का अनुभव नहीं कर सकते। आंख की अपनी सीमा है, कान की भी अपनी सीमा है और अन्य इंद्रियों की भी अपनी सीमायें हैं। वहीं विज्ञान का क्षेत्र है। अर्थात् जो ऐन्द्रिक है वह विज्ञान है। मनुष्य के भीतर इंद्रियां तो केवल माध्यम हैं। उनका जाननेवाले प्रथक् और अलग हैं। आंख स्वयं नहीं देखती, वह देखने का उपकरण मात्र है। देखनेवाले प्रथक् और अलग है। सब इंद्रियों के पीछे जो सत्ता है, उसी का नाम आत्मा है। इस आत्मतत्व की जानकारी और परिचय के लिये हमें अपने ही भीतर देखना खोजना है। अपने आत्म स्वरूप को हमें स्व ज्ञान की ज्योति में देखना है, पहचानना है, उसका अनुभव करना है। सब इंद्रियों को निष्पंद करके, सब इंद्रियों की क्रिया का निरोध करके इस आत्मा को जाना जाता है। पातंजलि ने इसलिये चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहा है। जब चित्त की सब वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं और मन शुद्ध, बुद्ध और शांत हो जाता है तभी व्यक्ति स्वयं को जानता है और स्वयं से परिचित होता है। तभी उसे आत्म बोध हुआ अथवा उसे आत्मसाक्षात्कार हो गया, ऐसा माना जाता है। इस आत्म परिचय या आत्मज्ञान से ही जैसे प्रकाश से अंधकार का नाश हो जाता है, वैसे उसके जीवन में संतोष, शांति और आनन्द का स्फुरण होता है। तब वह जानता है कि जो उसके भीतर है उसकी मृत्यु नहीं। उसके सब भय विलीन हो जाते हैं, विषाद् मिट जाते हैं, चिन्तायें समाप्त हो जाती है, वासनायें क्षीण हो जाती हैं। और तब उसके कर्म सच्ची करुणा

की भावनाओं से उत्प्रेरित हो प्रभुचरणों में समर्पित होने लगते हैं।

समर्पण का यह बिन्दु ही जीवन को सार्थकता से भर देता है। इसी बिंदु से जीवन में जो भी शुभ है, सुंदर है, सत्य है, उसका प्रारंभ होता है। यही वह बिंदु जहां व्यक्ति की सरिता समष्टि के सागर को पाकर धन्य हो जाती है। ऐसी धन्यता पाये बिना जीवन स्वस्थ नहीं होता है और न ही सुन्दर होता है।

—००—

समाचार विभाग :

धर्म चक्र प्रवर्तन :

आचार्य श्री के देशव्यापी कार्यक्रम :

"खोजो स्वतंत्रता। और फिर स्वतंत्र चित्त में सत्य तो वैसे ही चला आता है जैसे सागर में सरितायें आती हैं।"

श्रीरामपुर में सत्संग :

आचार्यश्री, ४, ५ एवं ६ फरवरी के लिये श्रीरामपुर पधारे। ये तीन दिन श्रीरामपुर के प्रबुद्ध नागरिकों के लिये अविस्मरणीय हो गये हैं। आचार्यश्री ने यहां कहा : "सत्य के मार्ग की यात्रा केवल वे ही कर सकते हैं जो कि स्वतंत्र हैं। स्वतंत्र चित्त. . . .समस्त परंपराओं, संस्कारों और विचारों से स्वतंत्र चित्त ही वस्तुतः वह मार्ग है जो कि सत्य तक ले जाता है। स्वतंत्रता ही सत्य का द्वार है। स्वतंत्रता ही सत्य है। इसलिये मैं कहता हूं कि सत्य मत खोजो। सत्य तो स्वतः आता है। खोजो स्वतंत्रता। लेकिन हम तो परतंत्रता खोजते हैं और साथ ही सत्य भी चाहते हैं। यह असंभव है। ऐसा कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि, जहां स्वतंत्रता ही नहीं है, वहां तो अज्ञात की यात्रा ही प्रारंभ नहीं होती है। परतंत्र चित्त यानी ज्ञात में बंधा चित्त। स्वतंत्र चित्त यानी ज्ञात से मुक्त। और निश्चय ही जो ज्ञात से बंधा है, वह अज्ञात को कैसे जान सकता है? जबकि सत्य अज्ञात है और परमात्मा अज्ञात है। अज्ञात को

पाने के लिये ज्ञात को छोड़ना ही पड़ता है। और यही है सबसे बड़ा साहस। क्योंकि ज्ञात में सुरक्षा है। क्योंकि ज्ञात परिचित है, और अज्ञात अपरिचित। इसी परिचय और सुरक्षा के कारण मनुष्य स्वयं ही अपनी जंजीरों को मजबूत करता रहता है। जबकि चाहिये अज्ञात और अपरिचित और अनजान में प्रवेश का साहस। ऐसा साहस ही साधना बनता है। और ऐसे साहसी व्यक्ति को ही मैं धार्मिक कहता हूं। साहस करो, स्वतंत्र बनो और सत्य को पा लो। सत्य तो सदा द्वार पर खड़ा है लेकिन हममें आंखें खोलकर उसे देखने का साहस ही नहीं है। परमात्मा तो निकट है लेकिन हम स्वयं की निर्मित परतंत्रताओं में ही बंधे हैं और उसकी ओर एक इंच की भी यात्रा करने में असमर्थ हैं।"

★

"स्वयं से भागो नहीं, जागो। क्योंकि भागने से जो स्वयं में शून्य है, वही जागने से पूर्ण बन जाता है।"

बारामती में प्रवचन :

आचार्यश्री ७ फरवरी को बारामती पधारे। ७ फरवरी की सुबह उन्होंने नागरिकों की एक सभा को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "मनुष्य के जीवन की मूल समस्या क्या है? वह पहेली कौनसी है, जिसमें उलझकर अधिक लोग व्यर्थ ही समाप्त हो जाते हैं? और जो इस मूल समस्या को बिना जाने ही जीवन पथ पर चल पड़ता है, निश्चय ही वह यदि भटक जाता हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। और दुर्भाग्य से अधिक लोग जीवनभर भागते हैं, दौड़ते हैं, और गिरते हैं और समाप्त भी हो जाते हैं, बिना यह जाने कि वे क्यों दौड़ रहे थे और क्या कर रहे थे। क्या आपको उस मूल समस्या का बोध है? क्या आप उसके प्रति सचेत हैं? नही। नहीं। जरा भी नहीं। अन्यथा आप दुखी न होते, अन्यथा आप जीवन को एक बोझ की भांति न ढोते। क्योंकि जो उस समस्या को जान लेता है, वह हल भी कर लेता है। उसे ठीक से जान लेना ही उसका समाधान भी है। वह समस्या यह है कि मनुष्य स्वयं को भरने और पूरा करने के लिये दौड़ रहा है। मनुष्य पाता है कि वह भीतर खाली और रिक्त है। एक अभाव उसे स्वयं के प्राणों में अनुभव होता है। इस अभाव को, इस रिक्तता और अकेलेपन को भरने के लिये ही वह दौड़ता फिरता है। धन की, यश की, पद की, सारी खोजें इसी अभाव को भरने के लिये हैं। लेकिन सब

पाकर भी पाया जाता है कि वह खाली का खाली है। और यही विफलता... यही अनिवार्य विफलता उसे जीते जी मुर्दा बना देती है। यह विफलता अनिवार्य है क्योंकि अभाव है उसके भीतर और जिससे वह उसे भरना चाहता है, वह सब है उसके बाहर। और आंतरिक रिक्तता बाह्य संपदा से कैसे भर सकती है? इसलिये बाहर संपत्ति का ढेर लग जाता है और भीतर की विपत्ति उससे अछूती ही रह जाती है। और संपदा के ढेर में भी मनुष्य स्वयं को दरिद्र ही पाता है। यह विफलता मनुष्य को त्याग और तप और धर्म की ओर भी ले जा सकती है। लेकिन वे भी बाहर ही हैं और वे भी व्यर्थ हैं। वस्तुतः सवाल कहीं धन में, या धर्म में भागने का नहीं है। सवाल है स्वयं में जागने का। अभाव क्या है...रिक्तता क्या है...यह स्वयं में जो शून्यता है, यह क्या है, इसे जाने बिना जो भागता है, वह तो बाहर ही भागेगा क्योंकि वह तो भीतर से भयभीत जो है। और उसकी सारी गति स्वयं से पलायन ही होगी। जबकि स्वयं से कोई कैसे भाग सकता है? स्वयं का होना यदि शून्यता भी है तो उससे भागा नहीं जा सकता है। वह जो भी है, वही है। उससे भागना असंभव है। इसलिये उसके प्रति जागना है। और जागते ही आश्चर्यों का आश्चर्य घटित होता है। क्योंकि, स्वयं के प्रति जागते ही पाया जाता है कि जो शून्य जैसा प्रतीत होता था, वह तो पूर्ण है। पूर्ण के प्रति पीठ हो तो वह शून्य है और शून्य के प्रति आंखें हों तो वही पूर्ण है। शून्य और पूर्ण एक ही सत्य के दो अनुभव हैं। निद्रा में पूर्ण शून्य मालूम होता है और जागरण में शून्य पूर्ण हो जाता है।

★

"आत्मघात या आत्मक्रांति....मनुष्यता के समक्ष उपस्थित बस ये दो ही विकल्प हैं।"

बारामती साइंस कालेज में उद्‌बोधन :

७ फरवरी दोपहर को आचार्यश्री ने बारामती साइंस कालेज के विद्यार्थियों को संबोधित किया। उन्होंने कहा : "मनुष्य का अतीत अत्यंत हिन्सा, क्रूरता और अज्ञान से भरा रहा है। ५ हजार वर्षों में १५ हजार युद्ध हुये हैं। और आश्चर्य तो यह है कि इस दुर्भाग्यपूर्ण अतीत से हमने अब तक कोई भी सीख नहीं ली है। मनुष्य वैसा का वैसा ही है। उसमें कोई मौलिक क्रांति नहीं हुई है। लेकिन अब या तो मनुष्य को आमूलतः बदलना होगा या मनुष्य की जाति ही नष्ट

हो जायेगी क्योंकि विज्ञान ने ऐसी शक्ति उसके हाथों में रख दी है कि वह हिंसक रहकर अब आत्मघात से नहीं बच सकता है। आत्मघात या आत्मक्रांति बस अब ये दो ही विकल्प मनुष्यता के समक्ष हैं। आत्मक्रांति से मेरा क्या अर्थ है? मेरा अर्थ है: आत्मा का जीवन। आत्मा का जीवन ही क्रांति है। शरीर के तल पर मनुष्य ने भलीभांति जीकर देख लिया है। उस जीवन में दुःख के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। और उस जीवन की पूर्णाहूति होती है, मृत्यु में। और स्मरण रहे कि जो दुख में जीता है और मृत्यु में समाप्त होता है, वह दूसरों के लिये भी दुःख बन जाता है और मृत्यु बन जाता है। इससे ही इतनी हिन्सा है, इतने युद्ध हैं, इतनी शत्रुता है। शरीर में ही जीवन को समाप्त मान लेने का यह स्वाभाविक परिणाम है। लेकिन एक और जीवन भी है। आत्मा का जीवन भी है। जो स्वयं की चेतना के केन्द्र को खोजता है, वह उसे पाता है। और उसे पाकर उसके लिये मृत्यु मिट जाती है। क्योंकि, जो भीतर है, जो जीवन है, वह अमृत है। उसकी कोई मृत्यु नहीं है। उसे न जानने से ही मृत्यु का भ्रम पैदा होता है। और जो उसे जान लेता है उसके लिये मृत्यु मिट जाती है। निश्चय ही उसे जानना समस्त दुःखों और पीडाओं के ऊपर उठ जाना है क्योंकि वह भोक्ता नहीं है। वह तो बस ज्ञाता है। और जो स्वयं दुःख के बाहर हो जाता है, वह किसी को भी दुःख देने में असमर्थ हो जाता है। ऐसी चित्तदशा ही अहिन्सा है। उससे तो प्रेम बहता है क्योंकि वह प्रेम है। उससे तो आनंद बहता है क्योंकि वह आनन्द है। उससे तो अमृत बहता है क्योंकि वह अमृत है।"

★

"अनुशासनहीनता जड़ता को तोड़ने की सक्रिय दिशा है, पर अनुशासनहीनता को सृजनकारी रूप देना विद्यार्थियों के हाथ में हैं।

जबलपुर कृषि विश्वविद्यालय में क्रांतिकारी प्रवचन :

कृषि विश्वविद्यालय छात्रसंघ के अंतर्गत आचार्यश्री का ८ फरवरी को मध्यान्ह मार्मिक क्रांतिकारी प्रवचन हुआ। आपने अपने प्रवचन में अनुशासनहीनता को सृजनकारी दिशा देने का आव्हान किया। आपने कहा: "आज का युवा विद्यार्थी पुराने जीवन मूल्यों को तोड़ रहा है। शिक्षा ने और संस्कारों ने जो नैतिक आचरण जबरदस्ती थोप दिये थे, उनको विद्यार्थी आज जगह जगह

तोड़ रहा है। इसकी पूरे मूल्क में बहुत आलोचना की जाती है और विद्यार्थी बिल्कुल अनुशासनहीन हो गया है, यह कहकर विद्यार्थियों को निन्दित किया जाता है। मैं ऐसे युवा विद्यार्थियों का स्वागत करता हूं और मैं इसमें कुछ भी गलत नहीं देखता.। कारण कि पिछले मनुष्य के इतिहास ने मनुष्य को अनुशासन में बांध बांधकर उससे जैसा चाहा है, वैसा ही करवाया है। और समस्त राजनैतिक षडयंत्रों के पीछे अनुशासन का स्वर होना आवश्यक होता है। पिछले दिनों मनुष्य ने जो युद्ध लड़े, उसके मूल में अतिजड अनुशासनयुक्त बुद्धि का होना है। कहा गया कि उद्जन बम गिराना है, तो सैनिक बिना विचार किये बम गिरा देता है। अब भी हम ऐसे ही मनुष्य चाहते हैं तो अब मनुष्यता का बचाना मुश्किल होगा.। क्योंकि कब किस राजनैतिक नेता का सिर घूम जाये और अनुशासनबद्ध लोगों के द्वारा दुनिया का सफाया हो जाये कहा नहीं जा सकता। अनुशासन बद्ध होना तो केवल दुनिया के राजनीतिज्ञों का एक बहुत बड़ा षडयंत्र है। इसमें अब तक व्यक्ति हिस्सा लेता रहा है और आगे भी उसे लेने को कहा जा रहा है, यह बहुत घातक है। आज तो जिसको भी मनुष्य से और मनुष्यता से प्रेम है, उसे स्वतंत्र और विचारशील व्यक्तियों का स्वागत करना होगा, विद्यार्थी अनुशासनहीन हो रहे हैं, इसे मैं अच्छी बात का संकेत मानता हूं और चाहूंगा कि जो भी जडतायें हैं, उन्हें युवा विद्यार्थी तोडने में पुरे साहस से आगे आयें। जो भी युवा विद्यार्थी को मानवीय मूल्यों में जड़तायें नजर आती हैं, उनके तोड़ने में उसे कुछ भी उठाना पड़े, वह अंतिमरूप से मानवीय जीवन को समृद्ध बनाने में सहयोगी होगा। लेकिन जहां एक और मैं अनुशासनहीनता का स्वागत करता हूं, वहीं दूसरी ओर आपको एक बहुत बडे इशारे की ओर संकेत करना चाहता हूं। आप जो राष्ट्र के जीवन में मामूली से मसलों के लिये व्यर्थ की तोड़फोडें करते हैं, कहीं बसों में आग लगाते हैं, यह सब आपकी शक्ति का व्यर्थ व्यय हैं जो आपको सिवाय गैर-जिम्मेवार जीवन की ओर ही ले जा सकता है। इससे कोई मसला हल नहीं होता। आपके सामने बहुत बड़े मसले हैं। समाज में करोड़ों अछूतों को हमने बना रखा है, विधवाओं को अतिपीडा में रख छोड़ा है, संप्रदाय की बड़ी दुर्भेद दीवारें बना छोडी हैं, इन सबमें आपकी शक्ति का उपयोग हो तो एक स्वस्थ समाज का निर्माण संभव हो सकेगा। आपकी जो अनुशासनहीनता है, यह स्वस्थ दिशा ले सके, इसकी मैं कामना करता हूं।"

★

"प्रेम है जीवन। प्रेम है प्रार्थना। और प्रेम ही परमात्मा है।"

मंडला में विशाल जनसभा :

आचार्यश्री २१ फरवरी की संध्या मंडला पधारे। रात्रि उन्होंने एक विशाल जनसभा को संबोधित किया। उन्होंने कहा: "मैं प्रेम के अतिरिक्त और किसी प्रार्थना को नहीं जानता हूं। और मैं कहता हूं कि जो प्रेम में समग्रतः प्रविष्ट हो जाते हैं, वे परमात्मा को भी पा लेते हैं। लेकिन प्रेम को पाने के लिये स्वयं को खोना पड़ता है। क्योंकि अहंकार की चट्टान के अतिरिक्त प्रेम के झरने को रोकने में और क्या बाधा है? प्रेम तो प्रत्येक के हृदय में भरा है, लेकिन अहंकार द्वार को रोके है। अहंकार को छोडो यदि प्रेम को पाना है। और प्रेम को पाना आवश्यक है, यदि परमात्मा को पाना है। अहंकार दुख है। परमात्मा आनन्द। अहंकार अंधकार है। परमात्मा आलोक। अहंकार परतंत्रता है। परमात्मा स्वतंत्रता। और अहंकार से, अंधकार से, परतंत्रता से जो परमात्मा तक, प्रकाश तक, परम मुक्ति तक जाना चाहता है, उसके लिये मार्ग क्या है? उसके लिये मार्ग है: प्रेम, प्रेम, प्रेम और प्रेम। प्रेम ही जीवन है, प्रेम ही प्रार्थना है और अंततः प्रेम ही परमात्मा है। लेकिन हम प्रार्थनायें भी करते हैं। और परमात्मा के मनुष्य निर्मित मंदिरों की परिक्रमायें भी करते हैं, पर प्रेम से हमारे हृदय बिल्कुल शून्य हैं। इसलिये न हमारी प्रार्थनाओं का कोई मूल्य है और न हमारे परमात्माओं का। उल्टे वे और भी मनुष्य को मनुष्य से तोड़ने के कारण बन गये हैं। और क्या जो मनुष्य को मनुष्य से ही तोड़ देता हो, वह कभी उसे परमात्मा से जोड़ सकता है? प्रेम के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है। क्योंकि प्रेम के अतिरिक्त स्वयं और समग्र के बीच और कोई सेतु नहीं है। प्रार्थनायें छोड़ो और प्रेम करो। परमात्मा को छोड़ो और प्रेम करो। और आप अंततः पाओगे कि प्रार्थना पूरी हो गई है और परमात्मा स्वयं ही उपलब्ध हो गया है।"

★

"ज्ञान के लिये पराये ज्ञान से मुक्ति आवश्यक। क्योंकि जो स्वयं का नहीं, वस्तुतः वह ज्ञान ही नहीं है।"

आणंद में प्रवचन :

आचार्यश्री ३ मार्च को आणंद पधारे। आणंद के प्रबुद्ध नागरिकों को संबो-

धित करते हुये उन्होंने कहा: "सत्य शब्दों से नहीं पाया जा सकता है। इसलिये वह किसी ओर से भी नहीं पाया जा सकता है। सत्य है स्वानुभूति। उसे तो स्वयं में और स्वयं ही खोजने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। लेकिन हम सत्य को खोजते हैं: शास्त्रों में, शब्दों और सिद्धांतों में। और इस भांति पाया गया ज्ञान, ज्ञान तो नहीं बनता, विपरीत ज्ञान के लिये अवरोध बन जाता है। क्योंकि जो व्यक्ति जितना अधिक तथाकथित ज्ञान से आबद्ध हो जाता है, वह उतनाही स्वयं के ज्ञान को पाने में असमर्थ हो जाता है। वह दिशा ही उसे विस्मृत हो जाती है। वह उधार और पराये ज्ञान को अपना मानकर ही तृप्त हो जाता है, इसलिये उसके स्वयं की ज्ञान की सोयी शक्ति के जागने का अवसर ही खो जाता है। वह स्मृति को और स्मृति में संग्रहीत सूचनाओं को ही ज्ञान मान लेता है, और परिणामतः सदा के लिये ही उस ज्ञान से वंचित रह जाता है जो कि ज्ञान है। इसलिये मैं कहता हूं कि सत्य की खोज में सबसे पहला कदम तो यही है कि हम उस ज्ञान से मुक्त हो जावें जो कि हमारा नहीं है। क्योंकि तभी हमारी खोज ज्ञान के उस आयाम में प्रारंभ होती है जो कि स्वयं में ही सोया हुआ है। और वहीं, उसी आलोक में जो कि स्वयं की चेतना से आविर्भूत होता है, सत्य है और वहीं परमात्मा है।"

★

"विचार को जगाओ। और विश्वासों से बचो। क्योंकि विश्वास अंधेपन में ले जाते हैं।"

सरदार पटेल विश्वविद्यालय, आणंद में प्रवचन :

आचार्यश्री ने ३ मार्च की मध्यान्ह में सरदार वल्लभभाई पटेल विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के बीच अपने विचार प्रगट किये। उन्होंने कहा: "विचार को जगाओ। सम्यक् तर्क को जगाओ। और विश्वास से बचो। क्योंकि विश्वास अंधेपन में ले जाता है। मनुष्य के दुर्भाग्य की सारी कथा उसके अंधे विश्वासों के अभाव में घटित नहीं हो सकती। और स्मरण रहे कि विश्वास मात्र अंधे होते हैं। फिर वे विश्वास चाहे आस्तिकों के हों चाहे नास्तिकों के। मैं तुमसे निवेदन करता हूं कि तुम विश्वासों से अपने को मत बांधना। क्योंकि जो विश्वासों से बंध जाता है, उसकी खोज निष्पक्ष और निर्दोष नहीं रह जाती है और वह सत्य को जानने में असमर्थ हो जाता है। और सत्य को जाने और पाये बिना न

जीवन में अर्थ है, न अभिप्राय है, न आनंद है। इसलिये सदा अपने चित्त को निष्पक्ष रखना और मन के द्वार खुले रखना और अपनी जिज्ञासा को सतेज और जीवन्त, ताकि एक दिन तुम उसे जान सको, जो कि समस्त जीवन का मूल है और उसे जानकर और पाकर उस धन्यता और कृतार्थता को पा सको, जिसे पाने के लिये ही प्रत्येक व्यक्ति जन्मता है, जिसे बहुत थोड़े से लोग ही उपलब्ध हो पाते हैं। क्योंकि अधिक लोग विश्वासों से बंध जाते हैं और उस निष्पक्ष खोज की आंखों को खो देते हैं, जिनके अभाव में सत्य के दर्शन होने असंभव हैं. विश्वास नहीं, विवेक... यदि यही तुम्हारी यात्रा की दिशा बन सकी तो तुम निश्चय ही उसे जान पाओगे जो कि सत्य है, जो कि परमात्मा है। सत्य ही परमात्मा है। उसके अतिरिक्त और कोई परमात्मा नहीं है। और सत्य को जानने का मार्ग विवेक है।

★

"मिटो, ताकि पा सको। मनुष्य जहां नहीं है, मन जहां नहीं हैं, वहीं वह है, जो है "

अहमदाबाद में सत्संग :

आचार्यश्री के सान्निध्य में ४, ५, ६ मार्च को एक विशाल सत्संग का आयोजन यहां हुआ। इस सत्संग से एक क्रांति की लहर ही पैदा हो गई। आचार्य श्री ने छः प्रवचन दिये। उन्होंने कहा: "धर्मों में धर्म नहीं है। और जिसे धर्म को पाना है, उसे धर्मों से मुक्त होना पड़ता है। धर्म तो एक है, क्योंकि सत्य एक है। और इस सत्य को पाने के लिये सत्य के संबंध में प्रचारित और स्वीकृत सारी धारणायें छोडनी आवश्यक हैं। जो उन धारणाओं को लेकर चलता है, वह सत्य को नहीं, बस अपनी धारणाओं के अनुभव को उपलब्ध होता है। निश्चय ही वैसी अनुभूतियां स्वयं की मनोकल्पनाओं से ज्यादा नहीं होती हैं। और कल्पनायें करने में मनुष्य का मन खूब समर्थ है। प्रकार प्रकार के ईश्वर इसी मन से पैदा होते हैं। लेकिन 'जो है' उसे जानने में ऐसा मन असमर्थ हो जाता है। तथाकथित धार्मिक लोग इसीलिये कभी सत्य को नहीं जान पाते हैं। क्योंकि वे स्वयं ही सत्य को गढने में जो संलग्न होते हैं। ऐसे गृह निर्मित सत्यों के कारण ही धर्मों का जन्म हो गया है। जबकि धर्म में प्रवेश के लिये सत्यों के गढने का यह गृह उद्योग बिल्कुल ही बंद करना होता है। मन जब सब भांति

धारणाशून्य, विचारों से रिक्त और कल्पनाओं से मुक्त होता है, तभी वह जाना जाता है, जो है, वही है सत्य। वही है परमात्मा। और उसे जानना ही मुक्ति है। निश्चय ही स्वयं सत्य को नहीं गढना है, वरन् स्वयं को मिटाना है ताकि सत्य प्रगट हो सके। और तब चित्त धारणाओं और विचारों और कल्पनाओं से शून्य होता है तो मिट ही जाता है। इस नकारात्मक दशा में ही सत्य जाना जाता है। मन की कोई भी विधायक क्रिया उसे पाने में बाधा है। मनुष्य सत्य को नहीं पा सकता है। हां, जहां वह नहीं है, वहीं सत्य जरूर है।"

★

अहंकार नहीं स्वाभिमान।

विश्वमैत्री संघ जबलपुर में संगोष्ठी :

जबलपुर नगर के उदीयमान नवयुवकों की संस्था विश्वमैत्री संघ के सदस्यों को आचार्यश्री ने १२ मार्च की संध्या उद्‌बोधित किया। व्यक्तिगत प्रश्नोत्तर के संगोष्ठी के इस कार्यक्रम में आचार्यश्री ने सदस्यों के प्रश्नों के उत्तर देते हुये कहा: "अहंकारी व्यक्ति का सुख दूसरों को झुकाने में निहित है। इसी के लिये व्यक्ति अपने अहंकार को भरने के लिये पद की, धन की, यश की दौड़ में पड़ता है। और जितनी अपनी दौड़ में वह आगे बढ़ता जाता है, अपने अहंकार को पूरे होने के मौके भी वह अधिक पाता है। इसके दूसरी ओर स्वाभिमानी व्यक्ति न तो दूसरों के आगे झुकना पसंद करता है और न ही किसी और को झुकाने में रुचि लेता है। जीवन के सहज प्रवाह में अविरल रूप से वह बहता है। लेकिन बाह्य आरोपित स्वाभिमान तो मात्र स्वाभिमान का अभिनय है, उसका कोई मूल्य नहीं है। अतः चेतना से जो स्वाभिमान सहज स्फुरित होता है, केवल उसका ही जीवन में वास्तविक मूल्य है।"

★

"ईश्वर मर गया है। मनुष्य निर्मित ईश्वर मर गया है। और उस ईश्वर को खोजना है, जो कि मनुष्य निर्मित नहीं है, और न कभी जन्मता है और न मरता है।"

बंबई में विराट सत्संग :

आचार्यश्री के सान्निध्य में एक विराट सत्संग का आयोजन २०, २१,

२२, २३ मार्च को यहां आयोजित हुआ। हजारों लोगों ने इस सत्संग में आचार्यश्री की अमृतवाणी को सुना। आचार्यश्री ने कहा: "मैं एक खबर लाया हूं कि ईश्वर मर गया है। लेकिन घबड़ायें नहीं और न शोक मनावें। क्योंकि जो ईश्वर मर गया है, वह मनुष्य निर्मित ही था। और यह शुभ ही है कि वह मर गया है, क्योंकि उसके कारण ही मनुष्य उस ईश्वर को जानने से वंचित था जिसका कि न जन्म है और न मृत्यु है। जीवन–अस्तित्व, जो है...वह अपनी समग्रता में ही तो ईश्वर है। लेकिन मनुष्य ने अपनी अपनी कल्पना से हजारों छोटे बड़े ईश्वर गढ रखे थे। वे धीरे धीरे मरते गये हैं और अब वह मंदिर खाली पड़ा है, जो कि उनसे बुरी तरह भरा हुआ था। इस खाली मंदिर में..... इस खाली मन में..... इस शून्य में अब उस सत्य को जाना और जिया जा सकता है, जिसकी कि कोई भी कल्पना संभव नहीं है। ईश्वर हमारी कल्पना नहीं है, और जो हमारी कल्पना है, वह ईश्वर नहीं है। उसे जानने को तो सारी कल्पनाओं को विदा दे देनी अनिवार्य है। कल्पना की प्रतिमायें जब तक चित्त को घेरे रहती हैं तब तक वह जो निराकार है, कैसे जाना जा सकता है? लेकिन जैसे ही आकारों और रूपों को विदा दी जाती है, वैसे ही पाया जाता है कि वह तो है.... वह तो सदा से है।"

★

प्रेम ही है द्वार और प्रेम ही है मार्ग :

सिन्धी तरुण समाज जबलपुर द्वारा विश्वप्रेम दिवस का आयोजन :

दिनांक २९ मार्च को आचार्यश्री ने गांधी भवन, जबलपुर में सिंधी तरुण समाज द्वारा आयोजित विश्व प्रेम दिवस के अवसर पर 'प्रेम ज्योति' प्रज्ज्वलित की। अपने उद्‌बोधक प्रवचन में आचार्यश्री ने कहा : "मैं प्रेम के अतिरिक्त जीवन–सत्य की ओर ले जाने का और कोई मार्ग नही देखता। जब जीवन में प्रेम नहीं होता, तो जो होता है उसका स्पष्ट चित्रण आज का विश्व है। आज मनुष्य जीवन मृत्य की कगार पर पहुंच चुका है, और आणविक युद्ध नें सारी मानवता को जीवन के अंत तक पहुंचा दिया है। यह विषाक्त स्थिति प्रेम के अभाव का परिणाम है। जैसे प्रकाश का अभाव अंधेरा है, वैसे ही प्रेम का अभाव विश्व युद्ध है। जब व्यक्ति का चित्त प्रेम से भरा नहीं होता तो शैतान खुलकर खेलता है। बडे बड़े षडयंत्र शैतान के प्रेम के नारों के पीछे काम करते हैं।

ऐसे प्रेम की, बडे सिद्धांतों की झूठी चादर ओढ़कर मानव जीवन को विनाश के गर्त की ओर ढकेला जाता है। इससे जानना चाहिये कि जो प्रेम परिणाम में सृजन न लाये वह थोथा है और मानव जीवन का विनाशक है। प्रेम होता है तो सृजन होता है और अखंड जीवन दृष्टि पैदा होती है।"

★

"भय से धर्म का क्या संबंध ? धर्म तो वहीं है, जहां अभय है।"

हैदराबाद पत्रकार सम्मेलन में

आचार्यश्री १, २, ३ अप्रेल को हैदराबाद साधनाश्रम में पधारे। हैदराबाद आते ही उन्होंने पत्रकार सम्मेलन को संबोधित किया। उन्होंने कहा : "मनुष्य के मन को सब भांति के भयों से मुक्त करना है। भय से बड़ी और कोई आत्मिक बीमारी नहीं है। इस भय के कारण ही धर्म के नाम पर मनुष्य का अतिशय शोषण हुआ। जबकि वस्तुतः धर्म और भय विरोधी दिशायें हैं। धर्म का भय से क्या संबंध ? धर्म तो वहीं है, जहां अभय है।"

★

"धर्म कहां है ? तीर्थों में ? नहीं। मंदिरों में ? नहीं। संगठनों में.. संप्रदायों में ? नहीं। धर्म तो वहां है, जहां हम उसे खोजते ही नहीं हैं। वह तो स्वयं में है।"

हैदराबाद में सत्संग :

आचार्यश्री के सान्निध्य में आयोजित सत्संग से हैदराबाद की जनता में एक अत्यंत विचारोत्तेजक भावदशा निर्मित हुई। उनके शब्द तो अग्नि की भांति हैं, जो कि जलाते भी हैं और निखारते भी हैं। उन्होंने यहां कहा : "धर्म का ह्रास धर्मों के कारण हुआ है। मनुष्य को धर्मों ने जोड़ा नहीं है, उल्टे तोडा है। उन्होंने बात तो प्रेमकी की, लेकिन घृणा के संगठन खड़े किये हैं। वस्तुतः संगठन मात्र के पीछे घृणा और हिन्सा होती है। धर्म का संगठन से कोई संबंध नहीं है। धर्म संगठन नहीं है। धर्म साधना है। और इसलिये, धर्म अत्यंत वैयक्तिक है। व्यक्ति जितना ही स्वयं में प्रविष्ट होता है, उतना ही वह धर्म के सत्य को जानता और अनुभव करता है। स्वयं की आत्यंतिक निजता

में ही धर्म का सत्य उपलब्ध होता है। इसलिये संगठनों में धर्म को मत खोजो। वह तो निज के एकांत और मौन में है। इसलिये भीड़ और समूह में उसे मत खोजो। वह तो स्वयं में ही है। शांत होकर उसे स्वयं में देखो तो पाओगे कि उसकी ज्योति तो निरंतर जल रही है। वह न मंदिरों में है, न तीर्थों में। वह तो वहां छिपा है जहां कि हम उसे खोजते ही नहीं है। वह तो स्वयं में ही छिपा है।"

★

"जीवन को जियो, उसकी समग्रता में। क्योंकि वहीं वह अवसर है जहां स्वयं में जो सोया है, वह जागता है और जीवन्त बनता है।"

सिकंदराबाद में प्रवचन :

आचार्यश्री ने २ अप्रेल की प्रभात सिकंदराबाद की जनता को संबोधित किया। उन्होंने कहा : "जीवन अखंड है। उसे खंड खंड में बांटना अत्यंत भ्रामक है। धर्म जीवन विरोधी नहीं है। और जो जीवन विरोधी है, वह धर्म नहीं है। इसलिये मैं समग्र जीवन को ही साधना मानता हूं। जो साधना जीवन से भागकर ही होती है, वह साधना नहीं, पलायन है। और पलायन कमजोरी है। फिर पलायन से, भागने से क्या कभी कोई समस्या हल होती है? समस्या को और उसकी चुनौती को जो सामने से स्वीकार नहीं करता है, वह तो उसे और भी उलझा लेता है। भय से भागना पैदा होता है और भागने से और भय बढ़ता है। ऐसे एक दुष्टचक्र पैदा हो जाता है। जबकि चित्त सजग हो और समग्र रूप से जीवन की समस्या का साक्षात् करता हो तो पाया जाता है कि समस्या है ही नहीं। वह थी हमारी मूर्च्छा में। जागरण में वह वैसे ही नहीं पाई जाती है, जैसे कि सूर्य के आने पर अंधकार नहीं पाया जाता है। जीवन को जियो। उसकी पूर्णता में जीवन को जियो। जाग्रत और अमूर्च्छित जीवन को स्वीकार करो। उससे भागो नहीं। क्योंकि वहीं वह अवसर है जहां स्वयं में जो सोया है, वह जाग सकता है।"

★

"अहंकार चाहते हो तो आनन्द न चाहो। क्योंकि, दोनों को एक ही साथ नहीं पाया जा सकता है।"

कटनी में संगोष्ठी :

आचार्यश्री के सत्संग के लिये ९ अप्रैल को कटनी के प्रबुद्ध नागरिकों की एक संगोष्ठी हुई। आचार्यश्री ने संगोष्ठी में कहा : "अहंकार दुख है। अहंकार पीड़ा है। अहंकार अंधकार है। लेकिन हम उसमें ही जीते हैं और इसलिये न तो हम जीवन को जान पाते हैं और न सत्य को, न सौन्दर्य को, न शांति को। अहंकार कारागृह है। और उस कारागृह में सूर्य का आलोक नहीं पहुंचता है। लेकिन हम आलोक भी चाहते हैं, आनन्द भी चाहते हैं, और अहंकार के कारागृह की दीवारों को ऊंचा भी उठाये जाते हैं ! क्या यह विरोधाभास आपको दिखाई नहीं पड़ता है ? इस विरोधाभास के दिखाई पड़ते ही जीवन में एक क्रांति हो जाती है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति यदि ऐसे विरोधाभास को देख ले तो फिर विरोधी दिशाओं में एक ही साथ नहीं जी सकता है।"

★

"सरिताओं के सागर को पाने का रहस्य क्या है ? वही परमात्मा को पाने का रहस्य भी है।"

कटनी में प्रवचन :

९ अप्रेल की रात्रि आचार्यश्री ने एक विशाल जनसभा को यहां संबोधित किया। उन्होंने कहा : "परमात्मा को खोजने मंदिरों में जो जाता है, उसे पता ही नहीं है कि परमात्मा वहां नहीं है। मनुष्य द्वारा निर्मित मंदिर इतने छोटे हैं कि परमात्मा उनमें कैसे समा सकता है ? उसे पाना हो तो मंदिरों की, और मनों की सारी दीवारें गिरा देनी आवश्यक हैं। मन का मंदिर जहां दीवारों से मुक्त हो जाता है वहीं परमात्मा है। मनुष्य मिटता है तभी उसे पाता है। सरिताओं के सागर को पाने का जो रहस्य है, परमात्मा को पाने का रहस्य भी वही है।"

★

"मैं शून्य सिखाता हूं। क्योंकि शून्य में ही व्यक्ति वहां होता है, जहां कि वस्तुतः वह है।"

शारदाग्राम सौराष्ट्र में साधना शिविर :

आचार्यश्री १४, १५, १६ अप्रेल को सौराष्ट्र पधारे। उनके सान्निध्य में

एक साधना शिविर शारदाग्राम में आयोजित हुआ। २५० साधक और साधिकायें तीन दिन तक उनके अमृत सहवास में रहे। जीवन में आमूल क्रांति कैसे हो, इस संबंध में आचार्यश्री ने उनका मार्गदर्शन किया। उनके शब्द-शब्द में अत्यंत मौलिक दृष्टि और उनके इशारे-इशारे में अदृश्य और अज्ञात सत्य की ओर इंगित है। उनके साथ होना एक अनूठा अनुभव है। उनकी आंखें वह सब भी कहती हुई मालूम होती हैं जो कि शब्द नहीं कह पाते हैं। उन्होंने यहां कहा : "मैं मौन सिखाता हूं। मैं शून्य सिखाता हूं। क्योंकि, शून्य में ही व्यक्ति वहां होता है, जहां कि वस्तुतः वह है। वह केन्द्र ही परमात्मा है।"

★

"मैं कौन हूं ? पूछो... स्वयं से पूछो। और पूछते ही जाओ तो एकदिन अवश्य ही वह उत्तर उपलब्ध होता है जो कि मुक्तिदायी है।"

पूना में सत्संग :

आचार्यश्री २२, २३, २४ अप्रेल को पूना पधारे। यहां उन्होंने तीन प्रवचन दिये। इन प्रवचनों में सैकडों लोग उपस्थित हुये और आनंदित हुये। आचार्यश्री को सुनना एक अभूतपूर्व आनन्द है। उन्हें सुनते सुनते ही जैसे चेतना किसी और ही लोक में चली जाती है। उन्हें सुनना मात्र सुनना ही नहीं, वरन् स्वयं में एक यात्रा भी है। उन्होंने यहां कहा : "मैं कौन हूं ? इस प्राथमिक प्रश्न का उत्तर ही जिसके पास नहीं है, उसके जीवन में कोई भी अर्थ कैसे हो सकता है ? और जिनके पास इस प्रश्न के उधार और सीखे हुये उत्तर हैं, उनकी स्थिति तो और भी दुर्भाग्यपूर्ण है। क्योंकि, उन्हें स्वयं के सत्य का तो कोई अनुभव है ही नहीं, उल्टे उधार उत्तरों को सीख लेने के कारण उनकी खोज भी अवरुद्ध हो जाती है। सत्य सीखा नहीं जा सकता है। सत्य की कोई भी शिक्षा नहीं है और न शास्त्र हैं। सत्य को तो स्वयं के श्रम से ही खोजना और स्वयं में ही खोदना पड़ता है। उस खोज की पहली शर्त है किसी अन्य का उत्तर किसी भी मूल्य पर स्वीकार न करना। यदि प्रश्न हो और उत्तर न हो तो वह प्रश्न ही एक तीर की भांति स्वयं में गहरे जाने का मार्ग बन जाता है। और यदि अनथक उस प्रश्न के साथ जिया जाये तो एक दिन वह उस उत्तर को खोद ही निकालता है जो कि स्वयं में ही प्रसुप्त और प्रच्छन्न है। ऐसा ज्ञान ही केवल ज्ञान है जोकि स्वयं में ही आविर्भूत होता है। उसके अतिरिक्त शेष सब अज्ञान है जो

कि स्वयं को छिपाने के लिये ज्ञान के वस्त्र पहने होता है ।"

★

"प्रतिस्पर्धा नहीं, प्रेम जीवन विकास का सूत्र :"

नवीन विद्याभवन जबलपुर में शिक्षा सप्ताह का समापन भाषण :

२८ अप्रेल के प्रभात आचार्यश्री ने नवीन विद्याभवन के विद्यार्थियों को संबोधित किया । उन्होंने कहा : "आज की शिक्षा का सारा ढ़ांचा प्रतिस्पर्धा पर खड़ा है । और प्रतिस्पर्धा से जिस समाज का निर्माण हुआ है, उसका स्पष्ट चित्र हमारे सामने है । प्रतिस्पर्धा महत्वाकांक्षा को जन्म देती है और परिणाम में जीवन में अंधी दौड़ प्रारंभ हो जाती है । इसका अंत बड़ा दुखद होता है । अतएव शिक्षा प्रतिस्पर्धा पर नहीं प्रेम पर आधारित होनी चाहिये । शिक्षा से काम के प्रति प्रेम पैदा हो, विभिन्न विषयों के प्रति प्रेम पैदा हो तो ही शिक्षा से वास्तविक मनुष्य का जन्म हो सकता है । ऐसा व्यक्ति जीवन के बीच, अपने कामों के बीच आनंद और शांति को उपलब्ध होगा ।"

★

"मनुष्य मन के द्वारा कुछ भी किया हुआ असीम को नहीं जान सकता ।"

जीवन जागृति केन्द्र जबलपुर में संगोष्ठी :

२९ अप्रेल को रात्रि में जीवन जागृति केन्द्र जबलपुर द्वारा आचार्यश्री के अमृत वचनों को सुनने के लिये संगोष्ठी आयोजित की गयी । इसमें सभी वर्गों के नागरिकों ने भाग लिया । संगोष्ठी में हुये प्रश्नों का उत्तर देते हुये आपने कहा : "ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय मेरी दृष्टि में अवैज्ञानिक है । और न केवल समन्वय ही अवैज्ञानिक है, वरन् ये तीनों क्रियायें मनुष्य के मन से संबंधित हैं, अतएव इनसे कोई व्यक्ति असीम तक नहीं पहुंच सकता है । क्योंकि परमात्मा है असीम और मनुष्य जो भी अपने मन के घेरे में करता है वह असीम तक जाने का कैसे मार्ग हो सकता है ? मनुष्य मन के द्वारा कुछ भी किया हुआ उसके मन की सीमा से बडा नहीं हो सकता । और असीम की सत्ताको छूने के लिये व्यक्ति को मन की सीमाओं के पार होना होता है तभी वह जाना जाता है जो कि है ।"

आचार्य श्री रजनीशजी के आगामी कार्यक्रमः

जून	दिनांक २८–२९–३०	सूरत, लायन्स क्लब, रोटरी क्लब, कालेज आदि संस्थाओं के उपक्रम से जाहिर प्रवचन।
जुलाई	१	माटुंगा
अगस्त	४–५–६–७	ग्वालियर
सप्टेंबर	५–६–७	अहमदाबाद, पर्युषण व्याख्यान माला।
सप्टेंबर	८	बंबई जैन युवक संघ, पर्युषण व्याख्यानमाला।

★

'ज्योतिशिखा' के ग्राहकों से प्रार्थना

आप "ज्योतिशिखा" के ग्राहक हैं। क्योंकि ज्योतिशिखा का प्रथम वर्ष मई १९६७ में समाप्त हो चुका है, अतः नये वर्ष अर्थात् जून १९६७ से मई १९६८ के लिए चन्दा रूपया ५ (पांच) मनिआर्डर द्वारा, या जैसा भी सुविधाजनक समझे, शीघ्रातिशीघ्र जीवन जागृति केन्द्र के पते पर भिजवा दें।

आचार्य रजनीश साहित्य प्राप्त होने के स्थान

बम्बई में –

जीवन जागृति केन्द्र, ५०५ कालबादेवी रोड़, बम्बई २

देहली में –

श्री मोतीलाल बनारसीदासजी, बुकसेलर्स, पो. बा. नं. १५८६, बंगला रोड़, जवाहरनगर, देहली ७

इन्दौर में –

श्री सर्वोदय साहित्य भण्डार, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर –२ ('म. प्र.')

अहमदाबाद में –

श्री बालगोविन्द प्रकाशन, गांधी मार्ग, अहमदाबाद – १

हैदराबाद में –

श्री साधनाश्रम, १५–८–२०५ बेगमबाजार, हैदराबाद – १ ('आंध्र')

पूना में –

श्री पी. डी. नानावटी,

श्री आदीनाथ सहकारी गृहरचना संस्था मर्यादित, ९२ रविवार पेठ, पूना - २

अमरावती में –

श्री एन. एस. अग्रवाल एडवोकेट, जीवन क्रांति केन्द्र, मोर्शी रोड़, अमरावती ('महाराष्ट्र')

एलोरा में –

श्री पन्नालालजी गंगवाल, श्री पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम 'गुरुकुल' एलोरा ('जि. औरंगाबाद')

जबलपुर में –

श्री सुषमा साहित्य मन्दिर, कमानिया गेट, जबलपुर ('म. प्र.')

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई द्वारा प्रकाशित
आचार्य रजनीश साहित्य

हिन्दी साहित्य

१– साधनापथ	मू. रू.	२–००
२– क्रांतिबीज	"	२–००
३– सिंहनाद	"	१–२५
४– अमृतकण	"	०–४०
५– पथ के प्रदीप	"	४–५०
६– मिट्टी के दिये	"	३–००
७– अहिंसादर्शन	"	०–४०
८– कुछ ज्योतिर्मय क्षण	"	०–४०
९– नये मनुष्य के जन्म की दिशा	"	०–४०
१०– मैं कौन हूं	"	०–२५

गुजराती साहित्य

१– साधना पथ	"	२–००
२– क्रांतिबीज	"	२–००
३– सिंहनाद	"	१–००
४– अहिंसादर्शन	"	०–३५
५– अमृतकण	"	०–४०
६– भाटी ना दिवा	"	३–००

मराठी साहित्य

१– साधनापथ	"	३–००
२– सिंहनाद	"	२–००
३– अमृतकण	"	०–५०

अंग्रेजी साहित्य

१– पाथ आफ सेल्फ रियेलायजेशन	"	२–२५